गार्गी पुस्तिका तीन

बुर्जुआ समाज और संस्कृति

तथ्यों का नेपथ्य

राधागोविन्द चट्टोपाध्याय
अनुवाद : प्रमोद बेड़िया

गार्गी प्रकाशन

बंगला में "आनृण्य" पत्रिका कोई बीस वर्ष पहले प्रकाशित होती थी। जहाँ तक मेरा अनुमान है, कुछ प्रगतिशील अध्यापकों द्वारा यह अद्‌भुत पत्रिका प्रकाशित होती थी। अचानक यह लेख मैंने पढ़ा और लगा कि इसका प्रकाशन हिन्दी तथा दूसरी भाषाओं में होना चाहिए। अनुमति के लिए पत्रिका के सम्पादक, इस रचना के लेखक, और भी सम्बद्ध लोगों का पता लगाने की कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हो पाया। यह लेख "आनृण्य" के 1981 के जनवरी अंक में प्रकाशित हुआ था। इसलिए पाठकों से अनुरोध है कि इन वर्षों का अन्तराल पाट कर चलें। वर्तमान समय के आँकड़े जुगाड़ करना, पुरुलिया जैसी जगह बैठे-बैठे सम्भव नहीं था। लेकिन फिर भी जिस बुर्जुआ संस्कृति का आख्यान यह लेख है, इस अन्तराल को आप किसी भी प्रतिशत से अनुमानित कर लें तो झूठा साबित नहीं होगा।

हम जिस समाज और वातावरण में रहते हैं, शायद उसी का परिणाम होगा कि जब मैंने पहली बार यह लेख पढ़ा तो लगा मुझे कोई टक्कर मार रहा है। लगने लगा कि यह कैसे हो सकता है। अपना आपा झूठा लगने लगा कि – तो क्या सम्पूर्ण मिथ्या के जहाज पर चल रहे हैं हम। ऐसा कैसे सम्भव है। मैंने दुबारा पढ़ा और लगा कि हाँ वही जहाज है, वही हवाएँ हैं, वही लहरें हैं, वही अँधेरा है – रोशनी का तो धोखा भर है। धोखा जीवन का आधार है, जिसे हम सच मानकर चल रहे हैं। अजीब-सी हालत थी। जितने दिन इसे अनुवाद करने में लगे, जितनी विसंगतियाँ व्यावहारिक क्रियाकलापों में आयीं, सभी का जवाब मुझे इससे मिलता लगता रहा।

आज सिर्फ ललित व्याख्याएँ नहीं हैं, विश्लेषण है, प्रमाणों, दस्तावेजों और आँकड़ों के साथ। घृणा है अपने पूरे जोश में, जिसकी आज हमें जरूरत है। शायद बुद्धिजीवीगण आँखों पर धुँधला पर्दा डालकर चलने के आदी हैं, इसलिए धुँधली व्याख्याएँ करते हैं। इसमें धुँधलेपन से परहेज है।

खैर यह तो मेरे विचार हैं, आपके विचारों के लिए प्रस्तुत हैं।

–अनुवादक

जिन्हें सरमायादार सर्वहारा के एकमात्र शत्रु प्रतीत होते हैं, उनकी आलोचना करते हुए फ्रांसीसी विद्धान रेमण्ड ऑरेन ने कहा है कि पूँजीपतियों को जिस तरह बद्जात और षड्यंत्रकारी के रूप में चित्रित किया जाता है, वास्तव में ऐसा है नहीं। ये लोग अपने कारोबार के नफे-नुकसान के अलावा कुछ नहीं समझते हैं। सम्पत्ति सम्बन्धी परिचालनाएँ तो छोड़ दें, किस तरह यह विराट मामला परिचालित होगा, इसका कोई बोध इन्हें नहीं होता। यह विचार आधारहीन नहीं है। क्योंकि मालिक सिर्फ 'कूपन' काटते हैं। अनुपार्जित आय से भोग-विलास भरे जीवन के अलावा कदाचित ही ये किसी दूसरे मामले में सर खपाते हैं। इनके स्वार्थ से जुड़ी सारी चिन्ताएँ और कार्य नौकरीपेशा बुद्धिजीवीगण करते हैं। बुर्जुआ समाज द्वारा अनाचार, अत्याचार और युद्धविग्रह के लिए ये लोग ही जिम्मेदार होते हैं।

बुद्धिजीवी इतने कुकर्म क्यों करते हैं? प्रत्यक्ष और परोक्ष दो कारण हैं। प्रत्यक्ष कारण तो बड़ा सीधा सा है – ये अपने प्रभाव, सम्मान, अवस्थान और वित्त के लिए बुर्जुजाओं पर निर्भर करते हैं। किसी भी व्यक्ति के लिए स्वतन्त्र रूप से वर्तमान शिक्षा का खर्च जुटा पाना सम्भव नहीं है। जितने भी निपुण वैज्ञानिक हैं, वे किसी प्रतिष्ठान या सरकार का पुछल्ला बनने को बाध्य हैं। उद्योगों का अन्तिम उद्देश्य इसमें पैसा लगाने वाले लोग निर्धारित करते हैं। हर उद्योग की अपनी शोध-शाखा होती है। वहाँ ऐसे वैज्ञानिक उद्योगों के फलने-फूलने के लिए शोध करते हैं। मिलावट के उन्नत तरीके खोजते हैं। सरकारी शोध केन्द्रों, विश्वविद्यालयों और विभिन्न फाउंडेशन आदि में युद्ध में प्रयुक्त विषाक्त जीवाणु, वाष्प या फिर ज्यादा से ज्यादा घातक बम बनाने के लिए शोध होते हैं। ऐसे लोग कुछ भी अच्छा नहीं करते होंगे, यह तो पता नहीं, लेकिन उन्हें अच्छा-बुरा, जैसा निर्देश मिलता है, वे जरूर उसे पूरा करते हैं। सरमायादारों की इच्छा से अलग उनके लिए कुछ करना असम्भव है। स्पष्टत: आधुनिक विज्ञान का उद्देश्य सरमायादारों या उनकी सरकार द्वारा ही निर्धारित होता है। क्रीमिया के युद्ध के दौरान अंग्रेज सरकार ने प्रसिद्ध वैज्ञानिक फैराडे को विषाक्त गैस बनाने को कहा था, जिसे उसने सीधे नकार दिया था। आधुनिक युग में फैराडे जैसे 'सिरफिरे' वैज्ञानिक भूखों ही मरेंगे। मालिक की इच्छा का नकार मौत का वायस भी बन सकता है। अमरीका के वैज्ञानिक ओपन हाइमर को हाइड्रोजन बम बनाने के विरुद्ध राय देने पर अपमानित होना पड़ा था। रूसी सरकार को बम बनाने का फॉर्मूला बताने के आरोप में रोजनबर्ग दम्पत्ति को झूठे मामले में फँसा कर मृत्युदंड दिया गया था। सरमायादारों के स्वार्थ के विरुद्ध किसी काम को अंजाम देना इस युग में किसी भी वैज्ञानिक के लिए असम्भव ही है।

ध्वंस के लिए विज्ञान की प्रयुक्ति का यह तर्क सही होते हुए भी, बुद्धिजीवियों द्वारा अपनी आत्मा बन्धक रखने के साथ इसका सम्बन्ध पर्याप्त नहीं है। सारे बुद्धिजीवी सचेत रूप से शोषण के पक्ष में नहीं होते। न्याय और सदाचार का पक्ष उपेक्षित होने से प्राय: सभी कुंठित होते हैं, कई बार विद्रोह भी करते हैं। न्याय का पक्ष लेना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। लेकिन दुनिया में मत्स्य न्याय चला आ रहा है क्योंकि न्याय-अन्याय की धारणाएँ सभी

की एक नहीं होती हैं। किसी को हत्यारे को फाँसी होने पर खुशी होती है तो दूसरा सोचता है वह अकेला ही दोषी नहीं है। हत्यारे भी इसी व्यवस्था के अंग हैं सो किसी एक को फाँसी देने से प्रतिहिंसा ही चरितार्थ होती है, न्याय नहीं। बम गिराने वाले न्याय, धर्म, सत्य और मानवाधिकार की रक्षा का दावा करते हैं। आदर्श की प्रेरणा ही मनुष्य के आचरण की नियामक शक्ति होती है – यह प्रेरणा किसी भी मनुष्य को अमरीकी लोगों से ज्यादा हिंसक और निष्ठुर बना सकती है। मनुष्य सिर्फ पैसों के लिए ही निष्ठुर आचरण नहीं करता है।

हिटलर ने साठ लाख यहूदियों की नृशंस हत्याएँ की; उसका यह काम किसी आर्थिक लोभ से प्रेरित नहीं था। मध्ययुग में सांसारिक सुखों से निस्पृह लोगों ने धर्मप्रचार के महान उद्देश्य से हत्या और ध्वंस का तांडव किया था। नृशंसता के लिए जो नायक इतिहास में प्रसिद्ध हैं, उनमें कम लोगों का ही उद्देश्य आर्थिक था। आदर्श से प्रेरित होकर ही मनुष्य हँसते-हँसते मारता है और मरता भी है। ऐसा कर वह अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। (इस प्रेरणा के नियामक कारणों की कुछ व्याख्या आगे है)।

आदमी का हृदय ईश्वर, धर्म, पाप-पुण्य, सुनीति और दुर्नीति विषयक धारणाएँ, समाज के भावाकाश और सांस्कृतिक वातावरण से साँस की तरह ग्रहण करता है। जैसे स्पंज पानी सोखता है, उसी तरह यांत्रिक प्रक्रिया में यह होता जाता है। इसीलिए हर व्यक्ति अपने समय की सन्तान होता है। श्रेष्ठ मनीषियों से भी इसमें अधिक उम्मीद करना व्यर्थ है। आज से हजारों साल बाद सामाजिक नीतियाँ क्या होंगी, इसकी धुँधली-सी धारणा भी मुश्किल है।

मनु की दण्डविधि हिंसक है; सामाजिक विधान निष्ठुर और वैषम्यमूलक है। यहाँ तक कि मनु स्मृति के कई विधान (जैसे अपराधी का अंग-भंग या बहु-विवाह) आदि दण्डनीय हैं। मनु और याज्ञवल्क्य क्या हमेशा ज्यादा हृदयहीन और मूर्ख थे? नहीं। आधुनिक संविधान निर्माताओं की योग्यता मनु के पासंग भी नहीं है। विदेशी विद्धानों ने मनु की उच्छ्वसित प्रशंसा की है। और यह मनु का प्राप्य भी है।

हामुराविर कोष या बाइबिल की तुलना में मनु-संहिता का श्रेष्ठत्व अविसंवादित है। मनु-संहिता जैसे ग्रंथ के लिए किसी भी देश को गर्व हो सकता है। सुचिन्तित, सुसम्बद्ध मनु स्मृति के हर पन्ने पर गम्भीर पाण्डित्व, अन्तर्दृष्टि, चिन्तनशीलता और विस्मयकारी प्रतिभा की छाप है। मनु और याज्ञवल्क्य अन्याय, अविचार के पक्ष में नहीं थे, बल्कि उनकी न्याय-अन्याय की धारणाएँ ही ऐसी थीं। मनु के विधान हमारे युगानुकूल नहीं हैं, एकदम नहीं हैं, लेकिन तत्कालीन युग में उसे कठोर या अमानवीय नहीं समझा गया था। प्लेटो या अरस्तू जैसे मनीषियों के मन में भी दास-प्रथा का नकारात्मक पक्ष नहीं आया था। अमरीका के प्रथम राष्ट्रपति जॉर्ज वाशिंगटन (1789-1796) ने अपनी वसीयत में 160 क्रीत दास भी छोड़े थे। बेंजामिन फ्रैंकलिन और स्वाधीनता के घोषणापत्र के रचयिता टॉमस जेफरसन (1800-1804) अपनी यौनेच्छा की पूर्ति के लिए छाँट-छाँट कर नीग्रो युवतियाँ खरीदते थे। फ्रैंकलिन का तो दास-उत्पादन का व्यापार ही था। भेड़-बकरियों की तरह नीग्रो दास-दासियों को इसलिए पालते

थे कि उनकी सन्तानों को दास बनाकर बाजार में बेचा जा सके। प्रेसिडेंट जेफरसन नीग्रो दासियों से उत्पन्न अपनी कन्याओं को रंडीखाने में बेचा करते थे। उनकी मृत्यु के बाद दो पुत्रियों को न्यू आर्लिया के क्रीत दासों के बाजार में यौन-व्यापारियों को बेचा गया। दोनों ही पुत्रियाँ सुन्दर, गोरी, शिक्षित और सुसंस्कृत तथा नीली आँखों वाली थीं। इसलिए उनके दाम 1500 डॉलर प्रति कन्या मिले। प्रेसिडेंट टाइलर ने भी ठीक इसी तरह अपनी कन्या को पतिता वृत्ति में झोंक दिया था।

वाशिंगटन, फ्रेंकलिन, जेफरसन और टाइलर आधुनिक भद्र लोगों से निकृष्ट नहीं थे। उनके कार्य उस युग की शिक्षा और संस्कृति के अनुकूल थे।

अभी कल की ही बात है इंग्लैण्ड के फौजदारी विधान में केले या मूली जैसी दो सौ तुच्छ वस्तुओं की चोरी के लिए फाँसी का फैसला दिया जाता था। अग्नि-परीक्षा द्वारा सत्य-निर्णय का नियम था। जज साहब, वादी-प्रतिवादी, दोनों से ही खुले आम घूस लेते थे। नौकरी के लिए भी यही प्रचलित था और कई को इसमें आपत्तिजनक कुछ नहीं लगता था। अंग्रेजों को दास-प्रथा इतनी लुभावनी लगी कि संसद में बिल लाकर भी इसे बन्द करना सम्भव नहीं हो पाया। अन्ततः मालिकों को 20,00,000 पाउण्ड का जुर्माना अदा करने पर उनकी मुक्ति सम्भव हो पायी।

सामाजिक भावाकाश के प्रभाव से कोई सा भी काम जनता को स्वाभाविक प्रतीत होता है। हर क्रिया किसी समय अच्छी मानी गई है और सारे महापाप काल की गति में सत्कर्म बनते गये। किसी समय युद्ध द्वारा ही न्याय-प्रतिष्ठा का नियम था। पिछड़े समाज के लोगों को कानून के फैसले से सख्त एतराज था। वे बाहुबल के पक्ष में थे। अनियमित यौन सम्बन्धों के बदले विवाह जैसे विचार भी मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकार में हस्तक्षेप माने जाते थे। मास्क ऐस्किमो, केनिया की उपजाति आदि अनेक समूहों में औरत उधार लेन-देन का प्रचलन था। एस्किमों अपने अतिथि का सत्कार अपनी पत्नी को उसके साथ सोने की अनुमति देकर करते थे लेकिन अगर वह फुसला कर भगा लेता तो उसकी हत्या तय थी। ज्यादातर नवजात शिशुओं को मार डालना कई जातियों का सामान्य नियम था।

पुरुषों के बहु-विवाह की तरह औरतों में भी यह रिवाज, कई देशों में स्वीकृत था। धार्मिक इतिहास के पन्नों के विवरण बताते हैं कि कुसंस्कार के प्रभाव से शायद ही कोई कुकृत्य हो जो मनुष्य जाति से बचा रहा हो। ऐसी किसी भी प्रथा की कल्पना असम्भव है जो किसी भी समय किसी भी देश में प्रचलित न रही हो।

संसार में जीवित रहना हर कोई चाहता है। लेकिन सामाजिक वातावरण के प्रभाव से प्राणों को तुच्छ समझ, स्वेच्छा से मृत्युवरण भी मनुष्य ही चाहता है। आत्महत्या के इतिहास के लेखक एमिल डार्कहाइम ने लिखा है कि विभिन्न युगों में अलग-अलग सामाजिक अवस्थाओं में समाज के प्रति श्रद्धा-ज्ञापन हेतु मनुष्य ने आत्महत्या की है और इसे प्राणोत्सर्ग, आत्माहुति या आत्म-बलिदान इत्यादि विश्लेषणों से आभूषित किया गया है।

डैनिश योद्धाओं की धारणा थी कि उम्र के भार से जर्जर होकर बिछौने पर पड़े-पड़े मरना कायरता और मर्यादाहीनता है। इस लाँछना से बचने के लिए वे आत्महत्या करना ही पसन्द करते थे। गॉथ जाति के लोगों में यह धारणा थी कि जिनकी स्वाभाविक मृत्यु होती है, वे परलोक में विषाक्त कीड़े-मकोड़ों के बीच अँधेरे गह्वर में अनन्त काल तक यंत्रणा भोगते हैं। किसी गॉथ की राज्य सीमा पर पितृ पुरुषों की शिला (Rock of Forefathers) नामक एक ऊँचा पर्वत था। जराग्रस्त होते ही इस पर से कूदकर लोग मुक्ति प्राप्त करते थे। थ्रेसियन, हेसली इत्यादि अनेक गोष्ठियों (समुदायों) में यह प्रथा प्रचलित थी। सिलवियास इटालिपकस ने लिखा है – स्पेन में 'कैल्टिक' उपजाति के लोगों में रक्त और प्राणदान का अदम्य उत्साह था। बलवीर्य इत्यादि से परिपूर्ण होते ही वार्धक्य की सीमा तक इंतजार करना उन्हें अपमानजनक लगता था। उनका विश्वास था कि सबल अवस्था में जो लोग मृत्युवरण करते हैं, वे स्वर्गवासी होते हैं तथा जराग्रस्त हो वृद्धावस्था में प्राण त्यागने से नर्क यंत्रणा भोगनी होती है। भारतवर्ष में ऐसी आत्महत्याओं का प्रचलन था। वैदिक काल की नहीं भी हो, फिर भी काफी पुरानी प्रथा थी। प्लूटार्क और क्विंटस कर्टिपास ने भारतीय सन्यासियों और ब्राह्मणों द्वारा अग्नि में प्राणाहुति का उल्लेख किया है। ब्राह्मणों के शास्त्र में ऐसा उल्लेख है कि निष्प्राण देह दग्ध होने से अग्नि अपवित्र होती है तथा व्याधिग्रस्त और निष्क्रिय होकर मृत्युवरण हीन माना जाता था।

हालाँकि मनुस्मृति में कई शर्तों की पूर्ति के बाद ही आत्महत्या का प्रावधान है। गृहस्थ जीवन में शास्त्रोचित कर्त्तव्य पूरे करने के बाद व्याधिग्रस्त होकर जीने से उत्तम देहत्याग ही माना गया है। (मनु 6/1-4)

न्यू देब्रीडीस तथा फीजी द्वीपों में भी यही प्रथा प्रचलित थी। सियरा द्वीप में, एक निश्चित आयु पूर्ण होने पर, सभी वृद्ध, फूलों के मुकुट धारणकर, एक जगह समवेत हो, हैमलॉक विषपान द्वारा आत्महत्या करते थे। सदाचार के लिए प्रसिद्ध टौगलोडाइट और सेरी लोगों में भी यही रिवाज था।

उपरोक्त जातियों में स्त्रियों के लिए भी पति की चिता में जल जाने का विधान था। कई देशों में जैसे 'गल' के राजा और सेनापति की मृत्यु पर उनके अनुचरों के लिए भी मुत्यु की प्रथा थी। हेनरी वार्टिन ने लिखा है कि युद्ध में मृत मुख्य नायकों की मृतदेह के साथ उनके अनुचर, दास-दासी, अस्त्र-शस्त्र, गहने और बर्तन इत्यादि सभी एक महोत्सव में अग्नि के सुपुर्द कर दिये जाते थे। प्रभु की मृत्यु के पश्चात् उनके अनुचर, पत्नी, दास-दासियों को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं था। अफ्रीका के 'असांति' कबीले में राजा की मृत्यु के बाद उसके मित्र सहयोगियों को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं था। हवाई द्वीप में भी यही प्रथा थी। टाइटस लिवी सीजर, वैलिरियए एवं मैक्सियस बर्बर गॉल और जर्मन लोगों द्वारा धीर, स्थिर और शान्ति से मृत्युवरण की तारीफ की गई है। पोलिनेशिया के लोग तुच्छ कारणों से आत्महत्या कर लेते हैं। उत्तर अमरीका के रेड इण्डियन कबीले का भी यही रिवाज है। जापान में हाराकिरी (पेट चीरकर आत्महत्या) कर अपराध के प्रायश्चित की परम्परा है।

रुढ़ीवादी सामाजिक परम्पराओं द्वारा ही असभ्य और बर्बर लोगों में आत्महत्या की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ था। सामाजिक स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊँचा है और इसके पालन के बगैर किसी का अस्तित्त्व सम्भव नहीं था। इसीलिए सामाजिक स्वार्थ के लिए व्यक्ति का आत्मदान बाध्यतामूलक माना गया है और उसी समर्थित वातावरण के प्रभाव से इसे प्राकृतिक नियम मानकर आत्महत्याएँ हुईं।

समाज और संस्कृति परिवर्तनशील हैं। सम्पत्ति के सम्बन्धों में परिवर्तन, संस्कृति के विवर्तन को अनिवार्य रूप से प्रभावित करते हैं। उत्पादन की नयी पद्धति पुरानी का स्थानान्तरण करती है, स्वभावत: सामाजिक सम्बन्धों का भी पुनर्विन्यास होता है। सम्पत्ति की व्यवस्थाएँ तथा राष्ट्र नेतृत्व हस्तांतरित होते हैं तथा नये सरमायादारों के नेतृत्व में नयी व्यवस्था की स्थापना होती है। नये सरमायादारों की प्रमुख शक्ति उनके अस्त्रबल तो होते ही हैं, लेकिन नयी संस्कृति उन्हें स्थायित्व देती है। इस तथाकथित नयी संस्कृति के प्रभाव से जनता के हृदय में प्राथमिक विरूपता मन्द पड़ जाती है एवं अन्तत: नयी व्यवस्था ही श्रेष्ठ, चिरन्तन आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में स्थापित होती है। इस संस्कृति के निर्माता बुद्धिजीवी होते हैं। अनजाने ही वे इस नयी व्यवस्था और शासक-श्रेणी का समर्थन कर जाते हैं। इसीलिए उस युग की संस्कृति उस युग के सरमायादारों की स्वार्थपूर्ति में सहायक होती है।

हर युग में शासक श्रेणी (वर्ग) की धारणाओं को शोषित श्रेणी यथार्थ मानकर स्वीकार कर लेती है; क्योंकि धन की लगाम जिस श्रेणी के हाथों में होगी, संस्कृति की लगाम भी वही सम्भालेंगे। जो लोग जनता की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे, मानसिक खुराक (पुस्तक, अखबार, शिक्षण, प्रचार आदि) का इंतजाम उन्हीं के हाथों होगा। स्वभावत: जनता के मानसिक साम्राज्य पर भी उन्हीं का आधिपत्य होगा, क्योंकि संस्कृति के नियामक यही सरमायादार ही होंगे। कार्ल मार्क्स की भाषा में –

"प्रत्येक युग में शासक वर्ग के विचार ही प्रभुत्वशाली विचार होते हैं, क्योंकि जो वर्ग समाज में भौतिक शक्ति पर शासन करता है वही साथ-साथ बौद्धिक शक्ति पर भी शासन करता है, जिस वर्ग के हाथों में भौतिक उत्पादन का नियंत्रण होता है उसी के हाथों में मानसिक उत्पादन का भी नियंत्रण होता है। यही कारण है कि आमतौर पर जिन लोगों के पास मानसिक उत्पादन के साधन नहीं होते, उनके विचारों पर शासक वर्ग का वर्चस्व होता है।"

पूँजीवादी संस्कृति ही बुर्जुआ संस्कृति कहलाती है। यह संस्कृति पूँजीवादी विषम व्यवस्था का उत्पाद है तथा उसके लिए रक्षा-कवच भी। इस संस्कृति के प्रभाव से पूँजीवाद द्वारा परिचालित नीति उत्कृष्ट सामाजिक नीति प्रतीत होती है, अति जघन्य और नृशंस अत्याचार भी सदाचार-सा लगता है, मूर्तिमान शैतान देवदूत-सी शान्ति देता है, अच्छे-बुरे का बोध लुप्तप्राय होता जाता है। कई आधुनिक विधि-विधान तो मनुस्मृति के विधानों से अधिक हिंसक हैं। बुर्जुआ समाज के कार्यकलाप आदिम युग के आदमखोर बर्बर लोगों को भी शर्मसार करते हैं। किन्तु इस संस्कृति के प्रभाव के नशे में हम अत्यन्त स्वाभाविक रूप से सब कुछ

स्वीकार करते हैं। बमवर्षण द्वारा लाखों शिशुओं, वृद्धों और स्त्रियों की हत्याएँ क्या हमें गुरुतर अपराध का अहसास भी देती हैं? जबकि बुर्जुआ व्याख्या में इसे धर्मयुद्ध कहा जाता है। जातीय स्वार्थ में युद्ध करना अपराध हो कर भी अपराध नहीं माना जाता। मध्ययुग में जो युद्ध धर्म के लिए होते थे, वे अब राष्ट्रीय स्वार्थ में होते हैं। इन युद्धों को हम स्वीकार कर अति उत्साह से समर्थन भी करते हैं। युद्ध आरम्भ होते ही देश के नागरिक खून की अन्तिम बूंद देकर शत्रु को पराजित करने का संकल्प लेते हैं। राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए किसी देश के दो लाख शिशुओं का वध हो तो हमारा विवेक सोया रहता है। अपने देश के शिक्षित, स्वस्थ, चुने हुए युवकों को युद्धभूमि में बलि होते देख हमें अस्वाभाविक कुछ नहीं लगता। उनकी अकाल-मुत्यु, लाखों सन्तानों से वंचित माँ-बापों का रुदन, मातृ-पितृहीन शिशुओं की दुर्गति, विधवाओं का विलाप सभी राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए कुर्बान होते हैं। विश्व-पूँजीवाद की मृत्युफाँस में इस तरह जकड़े हुए हैं कि निकलने का रास्ता नहीं है। ऊपर से मोहग्रस्त बुद्धिजीवीगण इसके असली स्वरूप पर नाना मोहक पर्दे डालते रहते हैं।

संस्कृति परम्परा की ही संप्रसारण होती है। परम्परा से प्राप्त विचारधारा और दृष्टिकोण ही, आधुनिक प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृति में रूपान्तरित होते हैं। परम्परा यानी अतीत के अनुभव, इतिहास तथा पूर्वजों द्वारा प्राप्त जीवन-दर्शन। ऐसी ही परम्परा से प्राप्त उपादान 'हिंसा', बुर्जुआ संस्कृति की नियामक शक्ति है। प्राचीन विचारकों का युद्ध के लिए असीम आग्रह और उत्साह था। उन्होंने युद्ध की प्रेरणा जगाकर यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। आक्रमण से आशंकामुक्त अवस्था मनुष्य की कभी भी नहीं रही। आत्मरक्षा के युद्ध में पराजित होने का अर्थ ही गुलामी का जीवन है। इसलिए हर जाति, सम्प्रदाय को युद्ध की दैहिक और मानसिक तैयारी का प्रयास करना होता है। हर देश, हर काल में तत्कालीन विजयी योद्धा श्रद्धाभाजन रहे। उन्हें ईश्वर के रूप में पूजा गया, कविताएँ लिखी गयीं। गीता में भी वीरगति को प्राप्त होने पर स्वर्गलाभ का आश्वासन है। महाज्ञानी प्लेटो ने कहा था कि यद्यपि स्वर्ग कल्पना ही है लेकिन उसे अति सुखद स्थान के रूप में प्रचारित करना है, वरना युद्ध में सैनिकों का उत्साह नहीं रह पाएगा। कुरान में भी धर्मयुद्ध में मौत का पुरस्कार स्वर्गवास है।

मनुष्य को उसके रूप में स्वीकृत होने से पहले ही आत्मरक्षा के लिए युद्ध होते रहे एवं जहाँ तक इतिहास हमारे कब्जे में है वह युद्ध का ही है। युद्ध की निरन्तरता ही मानव-जीवन की स्वाभाविक अवस्था है, शान्ति उसका व्यतिक्रम है।

सरोकिन ने, ईसा पूर्व 620 से 1925 शताब्दी तक हुए युद्धों का लेखा-जोखा किया है। इससे स्पष्ट है किसी भी जाति के लिए एक अन्तराल पर, युद्ध एक सामान्य नियम है। किसी जाति ने, पच्चीस वर्ष शान्ति से गुजारे हों, यह विरल है। प्राचीन ग्रीक के 375 वर्षों के इतिहास में 235 वर्षों तक युद्ध होते रहे। इसमें साल भर चलने वाले युद्ध लगभग 210 थे। रोम के 876 वर्षों के इतिहास में 416 वर्षों तक युद्ध हुए। 362 युद्ध वर्ष व्यापी रहे। आलोच्य काल में ग्रीक, रोम और योरोप तथा दूसरे नौ देशों में जो युद्ध हुए, उनका आनुपातिक निष्कर्ष इस प्रकार है–

ग्रीक - 57%, रोम - 41% , ऑस्ट्रिया - 40%, जर्मनी - 28%, हॉलैंड - 44%, स्पेन - 57%, इटली - 36%, फ्रांस - 50%, इंग्लैंड - 56%, रूस - 46%, तथा पौलेंड और लिथ्युबिया - 58%।

सरोकिन का कहना है कि युद्धों की संख्या में ह्रास का कोई भी प्रमाण नहीं है। जो विवरण मिलते आए हैं उनसे जाहिर है कि जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ सैनिकों की बढ़ती संख्या युद्ध में मृत्यु तथा साधारण मृत्युदर बढ़ी है। फ्रांस, इंग्लैंड, ऑस्ट्रिया, हंगरी और रूस के हताहतों के विवरण में बारहवीं से उन्नीसवीं सदी का पार्थक्य उल्लेखनीय है–

	पाँच देशों की कुल संख्या	युद्ध में मृत	सेना में मृत्यु दर
बारहवी शताब्दी	1,16,100	29,940	2.5:
उन्नीसवी शताब्दी	1,78,69,800	29,12,771	38.9:
1900 –1925	4,14,56,000	1,61,47,550	---

सरोकिन के अनुसार सर्वाधिक भयंकर और खूनी युद्ध का अभिशाप और 'गौरव' बीसवीं शताब्दी का ही है। इस शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों में जितनी मृत्यु हुई है, अतीत में किसी एक सदी में नहीं हुई। स्वैरतंत्र से गणतंत्र में युद्धलिप्सा कम है, यह धारणा तथ्यों द्वारा एकदम ही झूठ साबित हुई है।

योरोप की तुलना में बाकी देश पीछे नहीं हैं। लोगों का भ्रम है कि पूरब के देश योरोप की तुलना में युद्ध कातर नहीं हैं। इतिहास पर गौर करें तो यह सोच झूठ ही साबित होगी। योरोप की तरह ही चीन और भारत में भी हुआ है। कभी ज्यादा, कभी कम, कभी-कभी अन्तराल। विदेशी आक्रमण के प्रतिरोध में युद्ध, साम्राज्य-स्थापना के लिए दो राज्यों में युद्ध, सत्ता के लालच में सेनापति का राजा के विरुद्ध, पिता के विरुद्ध पुत्र और भाई के खिलाफ भाई के युद्धों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। जब जनता लड़ाई करते-करते क्लांत हो जाती है तब शान्तिवादी हो जाती है, फिर से बल संचय होते ही युद्ध में कूद पड़ती है। लहरें उठती हैं, गिरती हैं, उसी तरह युद्ध का उत्साह है, लेकिन युद्ध लिप्सा का अवसान नहीं होता।

आधुनिक युग में स्वदेशी सरमायादारों के 'सेवकों' द्वारा एक अदभुत नारा दिया गया है कि साम्यवाद की हिंसा भारतीय परम्परा विरोधी है। भारत शान्तिपूर्ण लोकतांत्रिक रास्ते पर चलना चाहता है। यह विमर्श उत्तम राजनैतिक प्रचार होते हुए भी विकृत इतिहास का उत्पादन है। भारतीय परम्परा में कभी हिंसा का विरोध नहीं है। भारतीय परम्परा कितनी हिंसा विरोधी रही, यह महात्मा गांधी के दीनबन्धु ऐंड्रयूस को लिखे (6 जुलाई, 1918) इस पत्र से जाहिर होती है–

आपने कहा है कि अतीत में भारत ने सचेतन रूप से हिंसा के विरोध में मानवता का पक्ष लिया है। क्या यह ऐतिहासिक तथ्य है? यहाँ तक कि रामायण और महाभारत में भी

इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। मेरे प्रिय तुलसीदास की रामायण में भी नहीं, हालाँकि तुलसीदास में बाल्मीकि से आध्यात्मिक दृष्टिकोण उल्लेखनीय है। यहाँ मैं इन ग्रंथों के तत्त्वों की व्याख्या में नहीं जाना चाहता।

रामायण और महाभारत में वर्णित ईश्वर के अवतार भी घोर रक्त-पिपासु प्रतिहिंसा-परायण और निर्मम हैं। उनके चरित्र-चित्रण से यह साफ है कि शत्रु को पराजित करने में उन्होंने छल-कपट का आश्रय भी लिया है। जितने भी मरणास्त्रों की कल्पना की जा सकती है, वे सभी उनकी सेना के पास हैं। आधुनिक लेखकों की तरह तत्कालीन रचनाकारों का उत्साह, युद्ध वर्णन के लिए देखते बनता है। राम की प्रार्थना में जो कविता तुलसीदास ने लिखी है, उसमें भी सर्वप्रथम राम के शत्रु-निधन का कृतित्त्व ही वर्णित है। फिर मुसलमानों के राज में देखें। युद्ध के लिए मुसलमानों में हिन्दुओं से कम उत्साह नहीं रहा है, हाँ हिन्दुओं की सांगठनिक शक्ति कम रही, क्षणजीवी तथा आत्मकलह से जर्जर होने का प्रभेद दोनों में रहा। आज जैसा सोचते हैं, मनु संहिता मे वैराग्य का विधान वैसा नहीं है, बुद्ध का मैत्री और अहिंसा का प्रचार भी व्यर्थ ही साबित हुआ। किवदन्ती है कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के विरोध में अवर्णनीय निष्ठुरता के उपाय अपनाए थे और इस तरह भारतवर्ष से बौद्ध धर्म को उजाड़ने में सफल हुए थे। अंग्रेजों के समय भारतीयों का अस्त्र रखना गैरकानूनी था, लेकिन जिज्ञासा तो बनी ही रही। जैनियों में भी अहिंसा की नीति शोचनीय रूप से परास्त हुई है। रक्तपात के लिए उनमें कुसंस्कार जनित आतंक है। शत्रुवध के लिए उनका भी उत्साह योरोपियन लोगों से कम नहीं है। मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ कि शत्रु की पराजय से वे भी और लोगों की तरह ही आह्लादित होते हैं। भारत के सन्दर्भ में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि कभी-कभी किसी खास व्यक्ति द्वारा अहिंसा के प्रचार की आन्तरिक प्रचेष्टाएँ हुई हैं, एवं वह कोशिश अन्य राष्ट्रों की तुलना में कुछ ज्यादा सार्थक हुई हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीयों के हृदय में अहिंसा की नीति दृढ़ मूल स्थापित हो चुकी हैं।

प्राचीन भारत में बुद्धिजीवियों ने हिंसा के विरोध की जगह उसके प्रचार में जिस नैपुण्य का परिचय दिया है, वह अमरीकी लोगों के लिए डाह का विषय हो सकता है। बचपन से ही हिंसा का पाठ पढ़ाने के लिए पंडितों ने ऐसी पौराणिक कथाएँ रचीं, ऐसे पूजा-अनुष्ठानों की स्थापना की कि वे माँ की गोद में बैठे, कहानियाँ सुनते हुए, हँसते हुए, बाल्यकाल से हिंसा से परिचित होते जाएँ। महिष-मर्दिनी, दुर्गा पूजा, नृमुंड कपालिनी काली पूजा की तरह हिंसा के प्रचार के ऐसे सार्थक उपाय अन्य किसी देश के पंडित शायद ही खोज सके हों। दुर्गा काली की प्रेरणा से सिर्फ लड़कों का ही नहीं, लड़कियों का भी–

मन करता है इसी भयंकर दण्ड को धारण कर

नाचूँ चामुण्डा रूप में इस समर में

युद्धरत देवी-देवताओं की जीवन्तप्राय प्रतिमूर्ति, ढाक का रणवाद्य, शत्रु के प्रतीक छिन्नमुंड बकरे का ताजा रक्त, फिर पुरोहित का चण्डी पाठ–

दृष्टावराल वदने शिरोमाला विभूषणे।

चामुण्डे मुण्ड मथने नारायणी नमोस्तुते।।

कुल मिलाकर नितान्त भीरू के खून में भी उबाल पैदा कर सकता है।

भारतीय परम्परा ने हमें हिंसा-विमुख किया है, यह नितान्त झूठ है। हिंसा से हमें कोई परहेज नहीं है। बुर्जुआ रीति में परहेज सिर्फ हिंसा शब्द से है। कहिए शक्तिपूजा, बलवीर्य की साधना, वीरत्व, आत्मरक्षा, देश की सुरक्षा – कुल मिलाकर इस भयंकर शब्द हिंसा को शब्दकोश से निकाल दें। कोई कहे उसे लड़ना नहीं आता तो हमें गुस्सा आएगा। प्रतिद्वंदी की चुनौती स्वीकार करने की योग्यता बगैर कोई मर्द हुआ भला! अंग्रेजों के राज में बंगालियों को असामाजिक जाति कहे जाने पर उनमें अपमान की तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। कायर है, यह कोई भी जाति कहलाना पसन्द नहीं करती। मार्क्स ने कहा है कि हमारे समाज को व्याधिमुक्त करने का सहज उपाय है कि भाषा से सारे श्रुतिकटु शब्द निकाल दें। इस अभिधान (शब्दकोश) के नये संस्करण के लिए विद्वानों से अनुरोध करना ही काफी होगा। दरअसल बुर्जुआ समाज में अहिंसा और शान्ति के नाम पर हिंसा के सिवाय कोई विकल्प भी तो नहीं है। स्वैराचार कर्णकटु है, इसलिए लोकतंत्र में हत्यारे न कहकर सैनिकों को वीर कहना इस धोखे को चलाए जाने का सबसे श्रेष्ठ उपाय है।

मनुष्य की रग-रग में हिंसा की धारा और परम्परा में हिंसा का प्रशस्तिगान – ये बुर्जुआ संस्कृति के उदय में सहायक होते हैं। हिंसा की ऐसी व्यापकता पूर्ववर्ती किसी युग में नहीं थी। यह व्याप्ति संचार साधनों के अभूतपूर्व विकास पूँजीवाद के प्रसार और लगातार उन्नत मारक अस्त्र से सम्भव हुई है। इसको नैतिक समर्थन बुर्जुआ संस्कृति से मिलता ही है। विभिन्न समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के लगातार फलने-फूलने पर ही पूँजीवाद का अस्तित्त्व निर्भर करता है और पूँजीवाद की यह जरूरत पूरी करती है बुर्जुआ संस्कृति।

पूँजीवाद की नींव है प्रतियोगिता जो कि एक असामाजिक प्रवृत्ति है। जंगल के जानवरों को जैसे शत्रु के आक्रमण के सम्मुख होकर अपना अस्तित्त्व बनाए रखना होता है, उसी तरह पूँजीवाद में हर नागरिक किसी न किसी प्रतियोगिता से गुजर कर ही अपने को टिकाए रखता है। व्यक्तिगत सोच के ऐसे लोग भी हैं जो श्रमिकों की अवस्था से व्यथित हैं लेकिन वे एक ऐसी व्यवस्था में हैं कि अगर उनकी माँगें मान भी लें तो प्रतियोगिता में पराजित होंगे। पूँजीवाद में हर उद्योग का दूसरे से, एक जाति से दूसरी जाति का युद्ध है। हरेक दूसरे को पराजित कर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा अर्जित करना चाहता है। इस युद्ध में – "कोई क घर म बाप मर, कोई क घर म माँ मर, आपणा घरा तो ढोल बाजणो चाये" के सिवाय कोई नीति हो ही नहीं सकती। जीविका के लिए भी एक दूसरे को धकिया कर आगे बढ़ने में युद्ध की ही मानसिकता होती है। विजेता हैं तो ठीक है अन्यथा मृतप्राय ही जीवित रहेंगे। पूँजीवाद किसी को भी रोजगार देने की जिम्मेदारी नहीं लेता है। व्यक्ति की ही जिम्मेदारी मानी जाती है। अब हर आदमी की शारीरिक और मानसिक योग्यता एक जैसी नहीं होती, जो कमजोर हैं, कमतर

हैं, जिनके मामा-चाचा नहीं हैं, उनके अस्तित्त्व का संकट बना ही रहता है।

सिनेमा हॉल में अचानक आग लगने पर, भयभीत, चकित जनता जिस तरह शिशु, वृद्ध और स्त्रियों को रौंदते हुए भागती है, ठीक उसी तरह पूँजीवाद में हर एक का आचरण होता जाता है। सारा बुर्जुआ समाज ही जैसे कोई दग्ध थियेटर है। मृत्यु भय से भीति-ग्रस्त, पराजय की आशंका से प्रतियोगी के प्रति निर्मम, दूसरों के दु:ख से निर्विकार, विजेता होने की उम्मीद में सारी जनता एक दूसरे को धकियाते हुए आगे जाना चाहती है। वह जानती है, पराजय का अर्थ ही मृत्यु है। पूँजीवाद इस भावना का उत्पादक ही नहीं, उत्साहदाता भी है, क्योंकि उसकी उत्पादन व्यवस्था की जीवनी-शक्ति यह भावना ही है। कितने कम से कम व्यय से ज्यादा से ज्यादा उत्पादन हो सके, यह उसकी बुनियादी सोच होता है। जनता भी ताल मिलाने लगती है। वह सोचती है, सरमायादारों की अभिलाषा (अर्थनीति की भाषा में इन्सेन्टिव) पूरी नहीं होगी तो उत्पादन प्रक्रिया ही ठप्प हो जाएगी। उत्पादन का नशा ऐसा है कि बुद्धिजीवीगण भी सरमायादारों की कुटिलता को छुपाने के लिए इन्सेन्टिव की जरूरत को और भी प्रचारित करते हैं। उन्हें ऐसा नहीं लगता, क्यों कि वे लगातार परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते हुए प्रहसन के पात्र बनते जा रहे हैं। नहीं लगता, क्योंकि वे "विशेषज्ञ" होते हैं, एक ही विषय में पारंगत।

प्रतियोगिता की सीमित सार्थकता हो सकती है, लेकिन इसे प्रोत्साहित करना खतरनाक होता है। समाज की एकता का सूत्र सहयोगिता में ढूँढा जा सकता है। प्रतियोगिता समाज-विरोधी प्रवृत्ति है। प्रतिद्वंदी को हराने की प्रवृत्ति मनुष्य में सहजात और दुर्दमनीय होती है, इसलिए बगैर रेफरी के फुटबाल भी नहीं खेली जा सकती। पराजय की सम्भावना देखते ही खिलाड़ी आक्रामक होने लगते हैं, जहाँ सत्ता और सम्पत्ति की प्रतियोगिता होगी, उत्तेजना उतनी ही चरम पर होगी। पूँजीवाद इस उत्तेजना की आग में घी डालता है। मान-मर्यादा और इज्जत पाने के लिए व्यक्ति के उद्यम और प्रतियोगिता के संकल्प का हार्दिक स्वागत करता है।

प्राचीन मनीषियों का कहना है कि आकांक्षाएँ असीम हैं और कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं। भोग विलास की आकांक्षा प्रश्रय पाकर और बढ़ती है। आज अगर इस विचार को मान लिया जाए तो कारखानों से जो उत्पादनों की बाढ़ आ रही है, और जिससे करोड़ों लोगों की जीविका चलती है – सबका क्या होगा। जनता अगर सादा जीवन व्यतीत करे, विलासिता के साधन जीवन से लुप्त हो जाएँ, तो सारी आवश्यक वस्तुओं के उद्योगों पर ताले लग जाएंगे, श्रमिक छँटाई होगी, राष्ट्रीय आय का स्तर नीचे आ जाएगा और मालिकों के मुनाफे में गजब का ह्रास आएगा। इसलिए, येन-केन प्रकारेण माल की माँग बनाए रखनी होगी, जनता को इसके उत्पादन के लिए उत्साहित करना होगा, नये फैशन खोजने होंगे, नये मॉडल और अश्लील विज्ञापनों द्वारा जनता के मन में ऐसा प्रलोभन जगाना होगा कि वह कर्ज लेकर, चोरी या बेईमानी से अपनी आकांक्षा की पूर्ति करे। ऐसे बुद्धिजीवीगण, जो उत्पादन की बढ़ोत्तरी के लिए पुख्ता दलीलें देते हैं, उनके ऐसे ही विचार हैं। भोग की आकांक्षा मनुष्य के अधोपतन का कारण है – यह विचार उनके लिए असम्भव है क्योकि वे विशेषज्ञ हैं। हिरन की तरह सर ऊँचा किये वे एक ही दिशा का संगीत सुन पाते हैं।

विज्ञापन विशेषज्ञ झूठे प्रचार से लोगों को ठगने का काम करते हैं। ज्यादातर आयकर वकील कम से कम आयकर देकर बड़ी कम्पनियों को ज्यादा से ज्यादा मुनाफा जुगाड़ करने की योग्यता रखते हैं। जनसम्पर्क अधिकारी का काम सरकार के कुकृत्य की सफाई देना है। श्रमिक अधिकारी का काम श्रमिक विवाद में मालिकों का पक्ष लेना है, कूटनीतिज्ञों का काम स्वदेश के स्वार्थ में विदेश जाकर झूठ बोलना है, पुलिस का काम है घूस लेकर अपराधियों को छोड़ना। सैनिकों का काम है नरहत्या। राजनीतिज्ञों का काम है जनता पर अत्याचार कर सरमायादारों को मजबूत करना, अखबारों का काम है झूठी खबरें छापकर जनता को बरगलाना और युद्ध के उन्माद का वातावरण बनाना। इन सभी की प्राथमिक शिक्षाएँ हमारे विश्वविद्यालयों में मिलती हैं। लेकिन यही काम शोषित जनता करती है तो चारों ओर शोर होने लगता है। दोनों के कामों में बुनियादी अन्तर न होते हुए भी बुर्जुआ बुद्धिजीवीगण बुर्जुआ वर्ग के सारे कृत्यों को सत्कर्म मानकर सफाई देते रहते हैं। एक ही-सा कृत्य अगर पूँजीवाद-विरोधी होता है तो समाज-विरोधी भी कहलाने लगता है।

बगैर युद्ध के उन्माद के कोई भी कार्य बुर्जुआ-सम्मत नहीं है। वर्तमान राजनीति ही युद्ध की राजनीति है। सरकार बनाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दल युद्ध करते हैं। छल-बल-कौशल से निर्वाचन का युद्ध जीतकर कुर्सी हासिल करते हैं। यह एक खुला रहस्य है कि निर्वाचन के विराट खर्च का जुगाड़ कैसे होता है। जीतने के लिए दुर्नीति, मिथ्या प्रचार तथा कैसे-कैसे कीचड़ उछाले जाते हैं। लेकिन बुर्जुआ व्यवस्था में सरकार बनाने की इससे बेहतर प्रक्रिया हो ही नहीं सकती है।

कामगार और सरमायादारों में भी युद्ध होता है। कामगार अपनी माँग के लिए नोटिस देंगे, हड़ताल करेंगे, पिकेटिंग (धरना) करेंगे, मालिक ले-ऑफ की घोषणा करेंगे, पुलिस की गोलियों से कुछ कामगार और आम लोग मारे जाएँगे, यातायात और विद्युत के ठप्प पड़ जाने से जनता भुगतेगी। फिर त्रिपक्षीय बैठक होगी, मोलभाव होगा और कमजोर पक्ष पराजित होगा। कामगार अगर कुछ माँगें मनवा भी लें तो सरमायादारों की तरफ से मुद्रास्फीति का तीर छोड़ा जाएगा। फिर से वही हड़ताल, लॉक आउट और बैठक। ऋतुचक्र की तरह यह क्रम चलता रहेगा।

सिर्फ कमजोर या ईमानदार लोग ही प्रतियोगिता के फलस्वरूप हाशिए पर आये हों ऐसा नहीं है। अनेक बाहुबली भी इससे प्रभावित हो रहे हैं, और उनके ज्यादा दिन नहीं बचे हैं। जिस समाज की रगों में युद्ध का उन्माद खून की तरह दौड़ता हो, उसका स्थायित्व भंगुर ही होता है। दरअसल बुर्जुआ समाज के लिए 'समाज' शब्द ही अनुपयुक्त है। इसमें समाज के कोई लक्षण ही नहीं हैं। स्वेच्छाचारिता को संयत किये बगैर समाज की रचना असम्भव है। यह भी बुर्जुआ समाज के द्वंद्व में, व्यक्ति-स्वाधीनता के छल से स्वेच्छचारिता की अनुमति समाज के कतिपय लोगों को मिलती है। लोकतंत्र की आलोचना में यह बात साफ उभर कर आई है कि बुर्जुआ समाज में स्वाधीनता सिर्फ धनिकों के लिए होती है, गरीबों को सिर्फ अनशन करने की स्वाधीनता है। दिखावे के लिए अदालत है लेकिन अमीरों को इसके लम्बे

हाथ भी छू नहीं पाते, वे कानून से परे हैं। स्पैलंगर के अनुसार "कानून सिर्फ उन लोगों के लिए है, जो इतने धूर्त और शक्तिशाली हों कि वे कानून की अवहेलना कर सकें।" उच्च न्यायालय में आवेदन करते हुए, हजारों दाँव-पेंचों से गुजरते हुए एक व्यक्ति का पूरा जीवन न्याय की आशा में बीत जाता है। पुलिस और न्यायाधीश को खुश कर, दिन को रात किया जा सकता है। लक्ष्मी-कृपा से, बीच सड़क पर, दिन-दहाड़े हत्या कर बेकसूर खलास हो जाते हैं। बाहुबल और अर्थबल की लड़ाई में कोई फर्क नहीं है। किसी विद्वान ने कहा है – न्यायालय की न्याय-प्रक्रिया के समर्थन में जितने भी तर्क दिये जाएँ, लेकिन विजयी होने के लिए, ऊँची फीस देकर प्रसिद्ध वकील और बैरिस्टर, ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। निरपेक्ष न्याय का ढिंढोरा पीटती हुई जो हमारी न्याय व्यवस्था बनी थी, उसमें पैसों का यह खेल आने वाली पीढ़ी के लिए चकित करने वाला होगा, इसलिए भी कि प्राचीनकाल में प्रयुक्त बाहुबल की पद्धति से यह कहाँ अलग है। अस्त्र-युद्ध की जगह अर्थ-युद्ध को उत्तरण (उद्धार) तो नहीं ही माना जा सकता है।

धनी लोग कानून को ठेंगा दिखाते हैं, उनकी काली करतूतों पर कानून एक सुहावना पर्दा है। अन्यथा, सुकरात, ईसा से शुरू कर मार्क्स, डिबेलेरो, नेहरू और गाँधी जैसे ज्ञानी, गुणी व्यक्तियों को कानूनन सजा नहीं भोगनी होती।

धन के अलावा शब्द-जाल भी मनुष्य को मोहित करते हैं – ऐसा ही शब्द है – "व्यक्ति स्वाधीनता'। पूँजीवाद अपने साथ ही इसका ढिंढोरा पीटता आया था; जनता के नहीं, वरन सरमायादारों के स्वार्थ में। जमींदारी की गुलामी से मुक्ति और आत्म-विक्रय की स्वाधीनता प्राप्त कामगारों के बगैर पूँजीवाद की शोषण-व्यवस्था को टिकाए रखना असम्भव ही था। इसलिए सरमायादारों ने अभिजातों से युद्ध कर यह स्वाधीनता दिलाई। तत्पश्चात् बुद्धिजीवियों का एक दल इस तथाकथित व्यक्ति-स्वाधीनता का ढोल पीटे जा रहा है। जरा सा ठहरकर सोचने में हर कोई इसकी टोह पा लेगा कि ढोल जनता के नहीं, सरमायादारों के स्वार्थ में पीटे जा रहे हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्वाधीनता के प्रति जनता में आकर्षण से ज्यादा भय है। व्यक्ति अपनी स्वाधीनता सहन नहीं कर पाता है, वरन दूर भागता है। स्वाधीन रूप से रह पाने के लिए जिस शक्ति, साहस, आत्मविश्वास तथा मेधा की जरूरत है, वह गिने-चुने लोगों में ही हो सकती है। निर्भरता ही आदमी की सहजात प्रवृत्ति है। जन्म-पूर्व ही वह माँ के गर्भ के निरापद आश्रय में रहता है। बचपन माँ-बाप और परिजनों के आश्रय में। किशोरावस्था में स्वाधीनता की भावना उछाल मारती भी है तो उसकी भ्रूण हत्या भय से हो जाती है। सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण का दबाव, रोग, शोक, मुत्यु एवं दैवी प्रकोप आदि धारणाएँ क्रमशः उसकी किशोर मानसिकता में घटाटोप बनाती जाती हैं, जिससे अनिर्वचनीय भय उद्वेग और अलगाव तथा असहायता की भावना पैदा होती है, जिससे मुक्ति के लिए वापस मातृगर्भ का आश्रय भी नहीं रहता तथा परिवार के प्राथमिक सम्बन्धों में टूटन आती है, उसे जोड़ना भी सम्भव नहीं होता। ऐसी अवस्था में भयभीत किशोर मन कोई निरापद आश्रय चाहता है। इसलिए सबसे पहले उसे ईश्वर पर विश्वास होने लगता है; पूर्वजों से सुनता

आ रहा है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान और निरापद है। यह विश्वास गहरे बैठता जाता है। इसी भावना से नेतृत्व के समक्ष आत्मसमर्पण का भाव पैदा होता है। जटिल समस्याओं का समाधान वह नेताओं पर छोड़, निश्चिंत होना चाहता है। दूसरा विकल्प है सामाजिक सम्बन्धों के विकास द्वारा संगठन की स्थापना। यौवन सहज ही मित्रभाव पैदा करता है। इस तरह एक दूसरे से जुड़ते चले जाने से व्यक्ति-सत्ता की परिपूरक सामाजिक सत्ता का उदय होता है। व्यक्ति अब अकेला नहीं है, किसी संगठन का सदस्य होता है, समाज का अंश है। समाज व्यक्ति को सुरक्षा का आश्वासन देता है। दुखों और तकलीफों को झेलते हुए भी मनुष्य सामाजिक सम्बन्ध बनाए रखता है। समाज के प्रति यह आकर्षण सिर्फ सभ्यता के विकास और स्वाधीनता की इच्छा से नहीं पैदा होता है, वरन पैदा होता है स्वाधीनता के भय की वजह से। समाज से अलग, निस्संग जीवन व्यक्ति के लिए असहनीय होता है।

संग साथ की प्रवृत्ति सहजात होती है। मनोविज्ञान में इसे सामाजिक प्रवृत्ति कहा जाता है। मनुष्य ही क्यों, चींटी, मधुमक्खियाँ, मछलियाँ, चिड़ियाँ, हाथी, हिरण, वानर इत्यादि अनेक प्राणियों में एकजुट होकर रहने की सहजात प्रवृत्ति है। यह भाव ही सामाजिक बन्धन का आधार है।

दैहिक सानिध्य के अलावा भी दूसरों से एकात्म-बोध की अनुभूति हो सकती है। सन्यासी या क्रांतिकारी, निर्जन कक्ष में निस्संग होते हुए भी दूसरों के साथ भावनात्मक सम्पर्क रखते हैं। ईश्वर, धर्म, देशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना इत्यादि आदर्शों और विश्वास से भी कई लोगों के हृदय में भाईचारे की भावना पैदा होती है तथा उससे प्रेरित हो जीवन उत्सर्ग कर पलायन और निस्संगता भोगते हैं। लेकिन भावनात्मक बोध लुप्त होते ही मनोबल क्षीण पड़ता जाता है। उसी तरह भावनात्मक सम्बन्धों के अभाव में, भीड़ में रहकर भी कोई अकेला महसूस कर सकता है। जिनके मन में ईर्ष्या – द्वेष के अलावा कुछ नहीं होता, वे हजारों की भीड़ में रहकर भी अकेले ही रहते हैं।

बुर्जुआ समाज में व्यक्ति दिनों-दिन अकेला और असहाय होता जा रहा है, सहयोगिता की भावना लुप्तप्रायः है। जिस कार्य में समष्टिगत स्वार्थ होता है, वहाँ सभी का एक ही लक्ष्य होता है तथा स्वभावतः सहयोगिता का भाव रहता है। लेकिन जहाँ हरेक दूसरे का शत्रु है, दूसरे को परास्त कर प्रतियोगिता में आगे जाना है वहाँ सहयोगिता कैसे होगी? हालाँकि कई संगठित प्रतिष्ठान इत्यादि हैं, लेकिन उनका उद्देश्य भी किसी भी दूसरे प्रतिष्ठान को पराजित करना है। इस समाज में सामाजिक दायित्व पालन करने का आह्वान, जो प्रायः नेताओं के भाषणों में होता है, छलना मात्र है, प्रतिपक्ष को विभ्रांत करने का कौशल है। सहयोगिता के पर्दे के पीछे सभी प्रतियोगी और अकेले हैं।

बुर्जुआ समाज एक रणक्षेत्र का मॉडल है। पहले सिर्फ सैनिकों को युद्धजीवी कहा जाता था, अब सभी युद्धजीवी हैं। सभी एक दूसरे को धकियाते हुए, उद्विग्न, भयातुर और असुरक्षित हैं। गरीब की चिन्ता चूल्हा जला पाने की है, नौकरी वालों को छँटनी का भय है, अमीर को प्रतियोगिता और मुद्रास्फीति से बाजार मन्दा होने की चिन्ता है, कामगार को हड़ताल की

आशंका है, बुर्जुआ, साम्यवादियों के आक्रमण से भयभीत हैं, यहाँ तक कि स्वदेशी सरकार सब कुछ जब्त कर सकती है, यह निरन्तर भय का कारण है। आज शान्ति है तो कल युद्ध आरम्भ हो सकता है। विद्रोह और दंगे हो सकते हैं। आज के मित्र देश, कल शत्रु हो सकते हैं। अस्थिरता इस समाज की विशेषता है। रोज नये फैशन, नये विचार आते हैं – जाते हैं, सरकारों का उत्थान-पतन हो रहा है, एक तानाशाह दूसरे को हटा रहा है, दूसरा तीसरे को, वर्ष भर नये कानून बनते जाते हैं, चीजों के दाम बढ़ते जाते हैं, रुपयों के कम होते जाते हैं, आज शिक्षानीति तो कल अर्थनीति में बदलाव आ रहे हैं। कुछ समझ पाने से पहले हर व्यवस्था, दूसरी का विकल्प बन जाती है। आदमी की मानसिकता समुद्र के तूफान में फँसी नौका के नाविक सी है। इस अस्थिरता से मुक्ति की उम्मीद में जनता तानाशाहों की शरणागत होती है। हजारों वर्षों की लड़ाई के बाद जिन नागरिक अधिकारों का अर्जन जनता ने किया है उसे इतनी सहजता से उन्मादग्रस्त और हिंसक तानाशाहों के हाथों विसर्जन की यह प्रक्रिया विस्मयकारी है। एरिक फ्रॉम ने कहा है कि बुर्जुआ समाज में सुरक्षा का अभाव और निरन्तर अनिश्चितता की पीड़ा की व्याकुलता से ही फासिज्म पैदा होता है। किसी भी चालाक भाग्यान्वेषी के संकट मोचन का झूठा आश्वासन देते ही, जनता उसके पीछे यों दौड़ती है, जैसे रेगिस्तान में मृगतृष्णा के पीछे प्यासा। स्वभावतया जनता अबोध, मूर्ख और भावुक होती है। जितना विवेक जनता के पास है, वह भी महाप्रलय के परिकल्पित भय से लुप्तप्राय है।

बुर्जुआ समाज में व्यक्ति-स्वातंत्र्य, सुरक्षा के एवज में मिला है। प्राचीनकाल में व्यक्तित्त्व के विकास में कई अतार्किक अन्यायपूर्ण और अलंघनीय बाधाएँ थीं। जो जिस जाति, श्रेणी, कुल या गोत्र में जन्म लेता, उसे उस दायरे से बाहर जाने की अनुमति नहीं थी। पूँजीवाद ने इन सभी धारणाओं पर झाड़ू फेर दी। अब चांडाल-पुत्र में योग्यता हो तो वह शिक्षक हो सकता है, ब्राह्मण मछली बेच सकता है। बदनामी का डर नहीं है। अपनी सुविधा के हिसाब से काम कीजिए। लेकिन यह परिस्थिति कुछ ऐसे पैदा हुई कि सर का दर्द दूर करने के लिए उसे काट दें। बहुतों की रुचि के मुताबिक काम नहीं जुटता है। योग्यता और रुचि के अनुसार काम न होने पर व्यक्ति क्या करेगा? वह भी न मिले तो? बेकार बैठे हुए व्यक्ति-स्वातंत्र्य का 'आनन्द' ही लेगा। करोड़ों बेकार घूमते हैं। पूँजीवाद एक हाथ से देकर दूसरे से दुगुना लेता है। स्वाधीनता दी है, जीविका का निश्चित उपाय और सुरक्षा नहीं दी है। इससे जनता में अस्थिरता पैदा हुई है जो प्राचीन काल में नहीं थी। तब समाज की विषय व्यवस्था में सभी का निश्चित स्थान था। धनी-दरिद्र, ऊँच-नीच, मालिक-नौकर, जमींदार-दास, ब्राह्मण-शूद्र विषमता के आधार पर गठित हुए भी निर्दिष्ट कार्यों के लिए स्वीकृत थे और सम्बद्ध दायित्व पालन करते थे। इस समाज में निचले तबके के लोगों को दारुण दुख, वंचना और लांछना सहनी होती लेकिन आधुनिक समाज के जैसा भय, उद्वेग एवं अस्थिरता नहीं थी। स्वर्गीय 'सन्तोष' के साथ स्वर्ग के पीछे भागने की प्रेरणा भी नहीं थी, शूद्र को ब्राह्मण होने के लिए सात बार जन्म लेना होता था। धनोपार्जन कर ब्राह्मण या क्षत्रिय के समकक्ष होने की कल्पना भी किसी शूद्र ने नहीं की होगी।

प्रतियोगिता के अलावा भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है क्रय-विक्रय सम्पर्क। प्राचीन काल में सामाजिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष थे। राजा-प्रजा, प्रभु-दास, ब्राह्मण-शूद्र सभी के परस्पर सम्बन्धों में निश्चित अपेक्षाएँ थीं। बुर्जुआ समाज में परस्पर कोई निश्चित, विधिवत सम्पर्क नहीं है। माल का क्रय-विक्रय ही सम्बन्ध बनाते हैं। जनता जरूरत की चीजों के लिए उत्पादक पर निर्भर है, लेकिन उत्पादक से सामना नहीं होता। कई हाथों से गुजरते हुए वह सामान उपभोक्ता के पास आता है। हम लोग अन्न के लिए किसान के पास नहीं जाते हैं और न ही वह हमारे पास आता है। इससे एक दूसरे पर निर्भरता का सम्पर्क स्वाधीन क्रेता-विक्रेता के आर्थिक लेन-देन में बदलता है। इसी लेन-देन पर बाजार का नियम चलता है।

इस लेन-देन के पर्दे में सामाजिक-निर्भरता की भावना मद्धिम हो जाती है। मोल-भाव करके खरीदने और बेचने के साथ सामाजिक न्याय-अन्याय की प्रक्रिया जुड़ी है, यह सोच पैदा ही नहीं होती है। फिर भी यह सच है कि मुनाफा, बाजार की आराजक अवस्था श्रमजीवी और उपभोक्ताओं की दुर्गति - सभी सस्ते में खरीदकर महँगे में बेचने से ही पैदा होती है।

सामाजिक सम्पर्क का क्रेता-विक्रेता सम्पर्क में बदलाव इस दौर पर आ पहुँचा है कि मनुष्य भी एक जिन्स होकर रह गया है। सामान्य मानव-धर्म के बदले सामग्री-धर्म अपनाते-अपनाते मानव-चरित्र के नये दिगन्त प्रकट हुए हैं।

विक्रेता के रूप में मनुष्य अपनी कार्यक्षमता, मेधा और व्यक्तित्त्व बेचता है। स्वभावत: क्रेता इसे अपने स्वार्थ में ही उपयोग करता है। क्रेता की पसन्द से ही माल तैयार होता है। पूँजीवाद में साधु, सत्यवादी, स्पष्टवादी, स्वाभिमानी, निष्कपट और सहृदय लोगों की माँग नहीं है। इसलिए इन गुणों की चर्चा भी कोई नहीं करता, वरन् कोढ़ की तरह इन्हें गुप्त रखना ही श्रेयस्कर समझता है। जो हत्या को आत्महत्या मानकर नहीं चल सकते, ऐसे लोग इस समाज में 'स्वर्गीय' ही हैं। खुशामद, बेईमानी, झूठ, खलता, निष्ठुरता और चालाकी आदि "गुणों " की माँग है – इसलिए इन गुणों की परीक्षा में उत्तीर्ण होने की होड़-सी लगी है। इस समाज में मिलावटहीन द्रव्य, बेईमान व्यापारियों के उत्पातों से परेशान जनता और घूस तथा दुर्नीति से ग्रस्त व्यवस्था है तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। सामग्री से मानव-धर्म की अपेक्षा भी तो नहीं की जाती। अपनी इच्छाओं का दमन करते हुए, रुचि को ठेंगे पर रखते हुए, दूसरे की पसन्द के अनुसार अपने को ढालना सामग्री धर्म की दूसरी नियति है। लगातार दमित होते-होते, अन्तर्द्वंद के फलस्वरूप, सकारात्मक मानसिकता का लोप होता जाता है, हालाँकि सांस्कृतिक प्रभाव कुछ ऐसा होता है कि इसका आभास भी नहीं हो पाता। बुर्जुआ संस्कृति में, जहाँ सार्थकता का पैमाना धन है, ऐश्वर्य के प्रति नमन और गरीबी के प्रति अवज्ञा इतनी स्पष्ट है कि हर कोई दरिद्र होना अपमान और हेठी का बायस समझता है। इस सामाजिक वातावरण से पैदा हुई इस सफलता की अवधारणा के फलस्वरूप कोई भी धनोपार्जन कर अपमान और ग्लानि से मुक्त हो, मान-मर्यादा का अधिकारी होना चाहता है।

धनोपार्जन मानव-मन की अन्तर्निहित प्रवृत्ति नहीं है, दूसरी कोई प्रवृत्तियों की पूर्ति का

उपाय मात्र है। अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही धन की जरूरत होती है। लेकिन ऐसा करते-करते उपाय ही उद्देश्य हो जाता है। इस प्रक्रिया में अहम और प्रभुत्व आदि नकारात्मक प्रवृत्तियाँ चरितार्थ करते-करते धन की लालसा का नशा सवार होने लगता है। शराबी की ललक जैसे बढ़ती ही जाती है, वैसे ही धनोपार्जन की लालसा भी होती है। लेकिन सफल होने पर भी अन्त में यही लगता है कि कुछ नहीं मिला जीवन में। वांछित मूल्यबोध के अभाव में, पारिवारिक सम्बन्धों की हताशा में, यौवन की संध्या में समझ पाता है कि सोने के हिरन के पीछे-पीछे ही सब कुछ बीत गया। पारिवारिक सुख, प्रेम और मित्रता आदि की अपेक्षित दमित वासनाएँ, स्वार्थी मन को निरन्तर और भी चंचल और अस्थिर करती हैं। इन अतृप्त वासनाओं से व्यर्थताबोध और आक्रोश पैदा होता है और अपने नुकसान की भरपाई के लिए प्रतिशोध की भावना भड़कती है। पश्चिमी समाज में ऐसी हताशा के फलस्वरूप लाखों तलाक होते हैं। न्यूयार्क के सौ सम्पन्न लोगों में बीस मानसिक रूप से विक्षिप्त हैं।

सामग्री-धर्म का तीसरा परिणाम है, हिंसा और निष्ठुरता का विकास। सामग्री और मनुष्य में कोई फर्क नहीं, इसलिए दूसरों के दुख हमें दुखी नहीं कर पाते। सामग्री से मानवीय सम्बन्ध कैसे हो सकता है। छाते में जाते वक्त छाते को धूप या बारिश से तकलीफ होती है, यह क्षणिक सोच भी नहीं हो सकता है। बाजार का नियम पालन करते हुए व्यक्ति को भूलना होता है, उसी तरह व्यक्ति को महत्त्व देने से बाजार के नियम नहीं चलेंगे। जिंस की तरह ही व्यक्ति का महत्त्व उसकी उपयोगिता ही निर्धारित करती है। तीसरे दर्जे का भाड़ा अदा कर अध्यापक अपनी विद्धत्ता के लिए या रोगी अपनी लाचारी के लिए प्रथम श्रेणी की सुविधाएँ नहीं पा सकता। गरीबों के लिए सस्ते में माल नहीं मिलेगा, यही बाजार का नियम है। जॉन एटन के अनुसार–

"केवल अपने बारे में सोचना तथा अपने पड़ोसी के बारे में न सोचना बाजार का आर्थिक नियम है। मानवता और मित्रता के आदर्शों का फल स्वर्ग में भले ही मिलता हो, इस पूँजीवादी धरती पर नहीं मिलता। इसीलिए एक भयानक अन्तर्विरोध आदमी को दो टुकड़ों में बाँट देता है – एक तरफ इनसान के तौर पर उसके आदर्श और दूसरी ओर समाज में अस्तित्त्वमान वह आर्थिक नियम, जिससे वह अपने को घिरा हुआ पाता है।"

और इसी नियम की हमें आदत हो गई है। अधिकांश समाज का जीवन तकलीफ से गुजरता है, यदि वे अनाहार या बगैर इलाज से कीड़े-मकोड़ों की तरह मरते जाते हैं, पेड़ों के तले रहने को बाध्य होते हैं, अगर उनके बच्चे अनपढ़ रहते हैं, तो हमें जिम्मेदारी की थोड़ी-सी भी अनुभूति नहीं होती है। हमें लगता ही नहीं कि हम किसी पर कोई अत्याचार करते हैं, ऐसा भी नहीं लगता कि कहीं न कहीं हम शोषण में सहायक हो रहे हैं, सिर्फ कानून-सम्मत बाजार के नियम मान कर चलते हैं।

प्राचीन काल में शास्त्रीय विधान से सामाजिकता निर्धारित होती थी। व्यक्तिगत प्रतिभा के अनुसार उस शास्त्रीय विधान की व्यवस्था और प्रयोग का अधिकार नहीं था। हिन्दु लोग

मानते थे ब्राह्मण अवध्य है और मुसलमान सूद को महापाप समझते थे। ऐसी अनेक प्रथाएं थीं, जिनके तार्किक होने के बारे में विचार करने की स्वाधीनता नहीं थी। लेकिन इन नीतियों का उल्लंघन असम्भव था। उस युग में शास्त्रीय विधान की जो मर्यादा थी, बुर्जुआ समाज में बाजार के नियम का वही स्थान है। इस विधान में अगर ब्राह्मण-वध लाभदायक है तो वह भी हो सकता है। ब्राह्मण ही क्यों, मुनाफे के लिए, वह थोक में नरहत्याएँ कर सकता है, खाने की चीजों में मिलावट कर सकता है, कर-चोरी भी करता है, कुल मिलाकर मनमानी कर स्वार्थसिद्धि करना ही पूँजीवाद का शास्त्रीय विधान समझा गया है।

इस विधान के पालन में व्यक्ति से टक्कर भी होती है। तब भी इसी नियम से साम, दाम, दंड, भेद से अपने स्वार्थ साधेगा, ताकत होगी तो विजयी होगा। इससे अलग दूसरी कोई नीति बुर्जुआ समाज की नहीं होती, कानून के रंगीन पर्दे तो इस नीति की ओट मात्र हैं।

वैसे ही व्यापार भी होता है। बारिश होने पर धूप नहीं रहने की तरह किसी प्राकृतिक नियम से कुछ नहीं होता है। माल की आमद कम होने से ही बाजार-भाव ऊँचा होने लगता है। व्यवसायी, उपभोक्ता की लाचारगी का फायदा उठाते हैं।

आधुनिक शासकों के चरित्र के बारे में सरोकिन ने कहा है – बेल्जियम से निरपेक्ष रक्षा के संधिपत्र को रद्दी के कागज सा फाड़कर, जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण कर प्रथम विश्वयुद्ध का सूत्रपात किया था। फिर तो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तोड़ने की बाढ़-सी आ गई। समझौते की स्याही भी नहीं सूख पाती थी कि समझौते तोड़ दिये जाते थे। वर्साई संधि का निरीक्षण होने के पहले ही हस्ताक्षर करने वाले उसमें परिवर्तन की माँग करने लगे। फिर तो अन्तर्राष्ट्रीय संधियों से मुकरने की होड़ सी लग गई। प्राच्य और पश्चिमी राष्ट्र लगातार संधियाँ तोड़ते गये।

द्वितीय विश्वयुद्ध में भी यही हाल रहा। हर सरकार सिर्फ समझौते ही नहीं तोड़ती थी, अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लघंन करने में भी माहिर रही। तानाशाह या लोकतंत्र – सभी का एक ही हाल था।

समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के विवरण से यह साफ जाहिर है कि इन संधियों का महत्त्व कागज के टुकड़े से ज्यादा कभी नहीं रहा। किसी भी पक्ष द्वारा शुरुआत होनी चाहिए। संधि करने वाले इसे मानने के अभिप्राय से संधियाँ नहीं करते और दूसरा पक्ष भी इसका पालन करेगा, ऐसा विश्वास भी नही पालते। राष्ट्रसंघ के सदस्य, इस संस्था के साथ जो समझौते हुए हैं, या परस्पर भी जो हुए हैं – सभी तोड़ चुके हैं। सरकारें तक आन्तरिक मामलों में वादाखिलाफी करती हैं। ळवसक बमतजपपिबंजम के स्वर्ण-भुगतान से लेकर अनगिनत सुधार और संशोधन के कार्यक्रमों के नकार की एक सुदीर्घ परम्परा है। प्रतिज्ञा-पालन के नाम पर आया है सुविधावाद (ग्चमकपमदबल) परिस्थितियों के अनुकूल काम करना। अद्‌भुत नीति है यह सुविधावाद – मनोरंजन, मद्यपान और नृत्य की तरह वर्तमान सुखद होते हुए भी भविष्य अंधकारमय ही रहता है। सुविधावादी सिर्फ समझौते ही नहीं, किसी भी नैतिक या सामाजिक

दायित्व को भी नकार सकता है। बाहुबल के स्वीकार के अलावा सामाजिक, धार्मिक और मानवीय मूल्य बोध का नकार है। अगर किसी के पास अस्त्रबल है तो मुनाफे के लिए जबरन शर्तें आरोपित की जा सकती हैं। अभी हू-ब-हू यही हालत है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नग्न बाहुबल ही मीमांसा का पर्याय हो तो आश्चर्यजनक नहीं है।

बुर्जुआ संस्कृति समाज विरोधी है, फलत: मानव विरोधी भी है। इस संस्कृति का विकास स्वार्थपरता और हिंसा से कदम ताल मिलाकर होता है। अमरीका की सामाजिक स्थितियाँ इसका पूरा अक्स है। हिंसक जंतु और मनुष्य में जो अन्तर है वह अमरीकी नागरिकों और शेष दुनिया के लोगों में उससे भी ज्यादा ही है। मनुष्य का पिशाच योनि में रूपान्तरण अमरीका में ही सर्वप्रथम हुआ है। वियतनाम के युद्ध में माँओं के पेट चीरकर गर्भस्थ शिशुओं की हत्या, उनकी योनियों में काँच के टुकड़े और विषधर साँप डालकर त्रास देना, बन्दूक के कुंदे से नवजात शिशु के सर के टुकड़े करना, असहाय जनता की अन्तड़ियों से फुटबॉल खेलना, पानी हवा और खाद्य वस्तुओं में जहर मिलाकर आम नागरिकों की हत्या करना, अस्पतालों, शिक्षा प्रतिष्ठानों और प्रसूतिगृहों पर बम वर्षा करने जैसे काम जिन्होंने किये, उन्हें 'मनुष्य' की सामान्य संज्ञा देकर भी मनुष्य कैसे कहें? अमरीकी सैनिकों ने वियतनाम में जैसे कारनामे किये हैं, उसके लिए अच्छी खासी मानसिक तैयारी होनी चाहिए, अचानक ऐसी क्रूरता कोई नहीं कर सकता। वे लोग पूरी तैयारी के साथ ही जाते हैं। दरअसल जैसा वे विदेश जा कर करते हैं, स्वदेश में भी वैसा ही करते हैं, वह भी बिना किसी ऊहापोह के। अमरीकी शिक्षा, संस्कृति और परम्परा के प्रभाव से जन्म लेते ही इन सब कारनामों में अभ्यस्त होने लगते हैं। जिन अपराधों की कल्पना भी अन्य देशों के लोग नहीं कर पाते, उन्हें वे निहायत ठंडे दिमाग से अंजाम देते हैं। कोई भी क्रूरतम कार्य बिना हिचकिचाए करना उनका जातीय चरित्र है।

किसी अमरीकी समाज-शास्त्री ने लिखा है "अमरीका दुनिया का सबसे बड़ा अपराधी है" ऐसी दुर्वृत्त जाति दूसरी कोई नहीं है। आनुपातिक तुलनाएँ बताती हैं कि अमरीका में आक्रांत्मक घटनाएँ (ोंनसज) फ्रांस की तुलना में दुगुनी, बलात्कार इटली की तुलना में तिगुने और विलायत की तुलना पाँच गुना ज्यादा है।

दूसरे विशेषज्ञ का कहना है कि 1965 में एक लाख से ज्यादा डकैतियाँ हुईं। यद्यपि यह संख्या कुल अपराधों का पांच प्रतिशत भी नहीं है, लेकिन इतनी तुच्छ भी नहीं है कि चुटकुला समझा जाए।

और एक बताते हैं कि हत्या के आरोप में पकड़ा गया एक युवक पुलिस चौकी में बैठा निर्लिप्त और शांत भाव से बताता है कि किस तरह टी.वी. देखते हुए वह कामांध हो गया और बाहर एक ऊँची इमारत के आटो इलीवेटर से चढ़ना शुरू किया। कई मंज़िल चढ़ने के बाद एक विधवा युवती को दबोचकर निचले तल्ले पर ले आया। उसी युवती को पीटकर बेहोश करने के बाद बलात्कार किया। बाद में, उसे एक लोहे की छड़ से मार-मारकर मृत समझ नीचे चला गया; कुछ समय बाद उसे लगा कि शायद वह नहीं मरी हो तो वापस जाकर चाकू

से उसका गला रेत आया। यह पैशाचिक कृत्य कोई अलग या विरल घटना नहीं है। ऐसे अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। शिल्पोन्नत देशों में अमरीका में ही अपराधों की संख्या बहुत ज्यादा है। यहाँ वार्षिक 8,600 हत्याएँ होती है। हत्या का अनुपात 1 लाख पर 4.8 प्रतिशत है। कनाडा में 3.5 प्रतिशत इंग्लैण्ड, फ्रांस और जापान में 2 प्रतिशत डेनमार्क में 1 प्रतिशत एवं अपराधों के लिए कुख्यात हाँगकाँग में भी 5 प्रतिशत है। प्रति व्यक्ति हत्याओं की आनुपातिक तुलना करने से पता चलता है अमरीका में गुस्सैल के रूप में निन्दित आयरिश 25 प्रतिशत, स्वीडिश 7 प्रतिशत एवं स्पेनवासी 6 प्रतिशत अधिक हत्याएँ करते हैं।

कुछ लोग सोचते है कि जिन देशों में आत्महत्याएँ ज्यादा होती हैं, वहाँ हत्याएँ कम होती हैं। जिज्ञासा बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होने से हत्याएँ कम होती हैं; लेकिन अमरीका में हत्याएँ और आत्महत्याएँ दोनों का ही अनुपात ज्यादा है।

एक अन्य अध्ययन बताता है कि वहाँ प्रति छब्बीस मिनट पर एक बलात्कार, प्रति पाँच मिनट पर एक बड़ी डकैती, प्रति अट्ठाइस सेकंड पर एक राहजनी, एवं प्रति तीस मिनट पर एक हत्या होती है। अमरीकी लोगों की प्रियतम सम्पत्ति बन्दूक है। बीस करोड़ लोगों के देश में दस करोड़ बन्दूकें हैं। पशु परिन्दों के शिकार की तरह मानव-शिकार सामान्य सी बात है। 1900 से 1970 तक यहाँ साढ़े सात लाख आम नागरिकों की हत्याएँ हुई थीं। बन्दूकबाजी में वार्षिक 17,000 याने अमूमन रोज पचास लोग मरते हैं। चार राष्ट्रपतियों-लिंकन, गारफील्ड, मैककिनले और कैनेडी की भी बन्दूक से ही हत्या हुई। रूजवेल्ट और ट्रूमेन अच्छी किस्मत वाले थे कि थोड़े से फासले से बच गये।

अपराधों की संख्या और क्रूरता में क्रमशः वृद्धि हो रही है। गत पांच वर्षों में आक्रामक घटनाएँ 18 प्रतिशत और बलात्कार 20 प्रतिशत बढ़े हैं। बिला वजह क्रूरता (एक प्रकार का मनोविकार - निष्ठुरता में सुखानुभूति) बढ़ी है। कई मामलों में निष्ठुरता में सुखानुभूति के अलावा अपराधों के पीछे कोई वजह नहीं थी।

एफ.बी.आई. परिचालित एक समीक्षा बताती है कि 1966 के प्रथम छः महीनों की तुलना में, 1967 के प्रथम छह महीनों में वृद्धि इस प्रकार थी – हत्याएँ 26 प्रतिशत, बलात्कार 14 प्रतिशत, डकैती 92 प्रतिशत, चोटें 36 प्रतिशत, राहजनी 44 प्रतिशत, छोटी चोरियाँ 25 प्रतिशत और गाड़ियों की चोरी 23 प्रतिशत।

कुछ महीनों पहले के (1972) एफ.बी.आई. परिचालित अन्तिम समीक्षा के आँकड़े उद्धत कर 'टाइम' पत्रिका में यह निष्कर्ष दिया गया – निक्सन प्रशासन में अपराधों की संख्या, तीन सालों में 30 प्रतिशत बढ़ी है। इतने ज्यादा और भयंकर अपराध 1930 के अलावा कभी भी नहीं हुए। सिर्फ 1972 में ही लगभग पचास लाख जघन्य अपराध घटित हुए, जिसमें चौदह हजार हत्याएँ (रोज चालीस के अनुपात से) हर 20 सेकंड पर एक चोरी, हर 48 सेकंड पर एक कार चोरी और 19 सेकंड पर एक बलात्कार हुआ।

अमरीकी समाज में ज्यादातर अपराधी किशोर या युवा हैं। हत्याओं के 1/5, बलात्कार

के 2/5, और डकैती के 3/5 बीस साल से कम के युवकों द्वारा किये जाने वाले अपराधों में हैं। छोटी-मोटी चोरियाँ, कार-चोरी और गुंडागर्दी से लेकर राहजनी, बलात्कार और हत्या इत्यादि अपराधों के लिए जो लोग पुलिस की चपेट में आते हैं उनमें से 40 प्रतिशत अट्ठारह वर्ष से नीचे की उम्र के होते हैं।

अमरीकी मौहल्लों में हत्या, आक्रमण और बलात्कार इत्यादि सभी दुष्कर्मों में सिद्ध लापरवाह तरुणों के दल पाए जाते हैं। (हमारे देश के दादाओं के उन्नत संस्करण) इनके भय से आम आदमी भी संत्रस्त रहते हैं। प्रेसीडेंट द्वारा नियुक्त एक समीक्षा में पाया गया कि अमरीका में 1/3 नागरिक अपने मौहल्लों से बाहर जाने में डरते हैं और 16 प्रतिशत लोग नितान्त आवश्यक कार्यों से भी बाहर जाना स्थगित रखते हैं।

युवा अपराधी सभी नशेड़ी हैं। इनकी संख्या लगातार बढ़ रही है। हेरोइन इत्यादि मादक द्रव्यों का अवैध आयात-निर्यात, जुआ तथा यौन अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। सिनेटर विफवार के अनुसार जुए में हर साल करीब दो हजार करोड़ डॉलर हस्तांतरित होते हैं। पुलिस की संख्या में वृद्धि की तुलना में अपराधियों की संख्या बढ़ रही है। इस हालत में आम नागरिक पुलिस पर भरोसा न कर अपनी हिफाजत का उपाय खुद ही करता है। आजकल कैलिफोर्निया के मुफस्सिल इलाकों में नयी इमारतें एक दूसरे से सटी हुई बन रही हैं। उन पर पुराने जमाने के किलों की तरह बुर्ज रहते हैं। हर दरवाजे पर चौबीसों घंटे सशस्त्र पहरेदार रहते हैं, चारों और दीवारों पर टी.वी. कैमरे की आँखें रहती हैं तथा खतरे का संकेत देने वाली विभिन्न घंटियाँ / परिचय-पत्र के बगैर अपने घर में प्रवेश निषिद्ध है। फिर भी अपराध बढ़ रहे हैं।

अमरीका में युवा अपराधियों की संख्या में वृद्धि के कारणों का खुलासा करते हुए अपराध-विज्ञानी लॉयड ऑलिंस ने व्यर्थताबोध और कुण्ठाओं से उत्पन्न असन्तोष को मुख्य वजह बताया है। आधुनिक युवक हताश, असन्तुष्ट, क्रुद्ध, लापरवाह हैं और सामाजिक विधि-विधानों के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है। लाखों के सामने कोई भविष्य नहीं है। जब वे सामाजिक और पारिवारिक जीवन की शुरूआत करते हैं, उस समय से ही प्रतियोगिता से पैदा प्रतिकूल परिस्थितियाँ सामने आती हैं। इन परिस्थितियों का सामना करने की योग्यता कम लोगों में होती है। ये युवा गरीबी के पंकिल परिवेश में पलते हैं, शिक्षा और सत्संग से वंचित हर पल उपेक्षित रहते हैं। स्कूली परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना भी सम्भव नहीं हो पाता और न ही कोई पेशागत दक्षता हासिल कर पाते हैं। ऐसे लाखों युवक-युवतियाँ नौकरी का दरवाजा बन्द पाते हैं, उन्हें लगता है उन्हें कोई नहीं चाहता। यह स्थिति भयानक हताशा का कारण बनती है। सालों-साल बीतने पर भी बेकारों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता। निरूद्देश्य जीते-जीते, जीवन धारण की ग्लानि से मन में अलगाव और असन्तोष का पहाड़ जमता जाता है। उन्हें लगने लगता है जो समाज उनकी उपेक्षा करता है, उसके प्रति उनका कोई भी दायित्व नहीं है, जहाँ उनकी कोई जगह ही नहीं है, उसकी रक्षा वे क्यों करें! हताश युवकों की यह भीड़ जब कहीं अपना स्थान नहीं खोज पाती है, तब निचले तबके के लोगों में घुल-मिलकर

अपराधों के जंगल में खो जाती है। बेल्टन फिशर के अनुसार अपराध कर्म का सीधा सम्बन्ध पारिवारिक आय से है। उसकी राय में पारिवारिक आय में 10 प्रतिशत की वृद्धि से अपराधों में 20 प्रतिशत कमी होगी।

गरीबी और बेकारी अपराध के आंशिक कारणों में ही गिनी जा सकती हैं। अगर गरीब ही अपराध करते तो अमीरों को दूध का धुला होना चाहिए था। लेकिन अमरीका और दूसरे देशों के अमीर, गरीबों से ज्यादा और खतरनाक अपराध करते हैं। शासकीय व्यवस्था से जुड़ा हर व्यक्ति युद्ध का अपराधी है; विषम व्यवस्था, सरकार के संचालन तथा अन्य कर्मस्थितियों व सारी दुर्नीतियों के प्रवर्तक और पृष्ठपोषक, सभी अभावों से परे हैं। अमरीका में गरीबी और बेकारी अविकसित देशों की तुलना में नगण्य है। कम से कम वहाँ के लोग भूखों मर कर गिद्ध के शिकार तो नही होते। कई जातियाँ और समाज ऐसे हैं जो भूखे और निराहार रहकर, सारा उत्पीड़न सहते हुए भी कोई अपराध नही करते हैं। संथाल इत्यादि आदिवासी कवीले के लोग गरीब होकर भी शिक्षित, सभ्य शहरियों से कई गुना भद्र और सौम्य हैं। वे भद्र लोगों की तरह निर्विकार, निर्लिप्त अपराध नहीं करते। प्राचीन काल में गरीबी व्यापक थी लेकिन अपराध नगण्य थे। इसलिए गरीबी ही अपराधों की वजह है – ऐसा सच नहीं लगता।

अपराध की प्रेरणा नहीं मिलने पर सिर्फ गरीबी की पीड़ा से लोग अपराध नहीं करते। दरअसल बुर्जुआ संस्कृति ही अपराध-वृद्धि का मूल कारण है जो धनी-दरिद्र, सभी को समाज-विरोधी होने की प्रेरणा देती है। बुर्जुआ संस्कृति को समाज-विरोधी भी कहा जा सकता है। इसकी उत्पत्ति और विकास की धारा की संक्षिप्त आलोचना इस सत्य को प्रमाणित करती है।

बुर्जुआ संस्कृति की उत्पत्ति योरोप में पूँजीवाद के उदय के साथ ही जुड़ी है। बुर्जुआ यानी हीनमना, आत्मकेन्द्रित, चरम स्वार्थ वाले अमीर श्रेणी के लोग। शब्द का मूल है बरो (ठवतवनही) या शहर के बाशिंदे (ठवनतहमवपे)। मध्य युग में भूमिदास प्रथा के विलोप के बगैर पूँजीवाद की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं थी। स्वभावत: जो वर्ग उद्योग, व्यापार द्वारा अमीर होना चाहता था, उसने तत्कालीन राजाओं और जमींदारों से स्वायत्तता का पट्टा लेकर छोटे-छोटे शहर बनाए-बसाए। इन शहरवासियों का नाम पड़ा बुर्जुआ (बहुवचन – ठवनतहमवपेपम)। इन शहरों में सर्वप्रथम स्वाधीन मजदूरों द्वारा ठेके के आधार पर उत्पादन आरम्भ हुआ। इन शहरों को पूँजीवाद और लोकतंत्र का जच्चागृह कहा जा सकता है। मध्ययुग में छोटे-छोटे शहरों में जिस उत्पादन व्यवस्था की नींव रखी गई थी उसी पर आधुनिक विश्वव्यापी बुर्जुआ समाज का स्मारक खड़ा किया गया।

बुर्जुआ समाज गठित करने वालों का एकमात्र उद्देश्य अमीर होना था, अभिजात श्रेणी के हाथों से राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व छीनकर अपनी सत्ता प्रतिष्ठित करना, धन-बल और सम्पत्ति-बल से अभिजात वर्ग को उखाड़ कर अपने पैर जमाना था। इन नवधनाढ्यों के लिए अभिजात वर्ग का सशस्त्र विद्रोह तो था ही, लेकिन दूसरी बड़ी अड़चन आदर्शवाद की बुनियाद थी। प्राचीन अभिजात वर्ग धर्म-बल का धनी था। उसकी परम्परा में कुलीनता

और धर्मग्रंथों का विशाल यश था। नवधनिकों के समाज में अर्थवान होना ही मनुष्य का प्रथम कर्तव्य माना गया एवं स्वभावत: बाजार के विषयों को सामाजिक गठन का आधार मान लिया गया। ऐसी किसी नीति से प्राचीन युग के लोगों का परिचय नहीं था। उस युग में अर्थ से महत्त्वपूर्ण धर्म था। ऐसा नहीं था कि उस काल में लोगों को धनलिप्सा थी ही नहीं। लेकिन धनलिप्सा हो या यौनलिप्सा – धर्म का अनुमोदन जरूरी था। अन्यथा जनता उसे स्वीकार नहीं करती थी। अभी भी ऐसा ही है। इसलिए बुर्जुआ बुद्धिजीवियों द्वारा यह समझाया गया कि जिन क्रियाओं से धनोपार्जन सम्भव है, वही धर्म है। इस नयी शिक्षा का दायित्व बाकायदा प्रोटेस्टेंट नामक ईसाई पंडितों के धर्म संस्कारक सम्प्रदाय को दिया गया। उन्होंने जनता को बताया कि धनोपार्जन ही मूल धर्म है। इसकी व्याख्या उन्होंने इस तरह की – धन कैसे आएगा? दृढ़ संकल्प, प्रगाढ़ लगन, नियम-अनुसरण और मितव्ययिता इत्यादि 'सद्गुणों' से ही यह सम्भव है। इन गुणों से रहित लोग गरीब होते हैं। इन गुणों वाले मनुष्य पर ईश्वर प्रसन्न होकर उसे धर्मनिष्ठा का पुरस्कार देता है। लिहाजा बड़े लोग ही ईश्वर के प्रिय होते हैं। धर्मप्राण, सज्जन एवं गरीब अधार्मिक और मिथ्यावादी होते हैं। धनोपार्जन ही मुख्य धर्म है। इस कार्य में निष्ठावान व्यक्ति ही पुण्य का भागी होता है। धनोपार्जन की अवहेलना पाप है। ऐसी शिक्षा के बाद, धनोपार्जन के महत्त्व को न समझने वाले, अक्षम, आलसी, गैर-जिम्मेदार, महत्त्वाकांक्षाहीन, पापी गरीब जनता को पुण्यवान बनाने के लिए भूमिदास के जो अधिकार थे, वे भी छीनकर, जमीन से बेदखल कर, सिर्फ आत्मविक्रय की स्वाधीनता देकर उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया।

प्रोफेसर आर.एल. हैनी तथा मैक्स बेवर ने इसकी विशद व्याख्या करते हुए बताया है कि यह दरअसल अर्थपिशाचों को भद्र पोशों में प्रस्तुत कर आकर्षित करने की चाल मात्र है। पूँजीवाद की स्थापना के लिए सरमायादारों के कार्यों को धार्मिक जामा पहनाकर, तथा योरोप के भगवान, पंडितों-राजाओं और जमींदारों (सामंत वर्ग) द्वारा शासित समाज-व्यवस्था को ध्वंस कर, सरमायादारों के तथाकथित गणतंत्र के झंडे गाड़ना ही इसका एकमात्र उद्देश्य था। इस नवागत धनिक श्रेणी, बुर्जुआ श्रेणी द्वारा अर्थनैतिक सत्ता के दखल की लड़ाई को, सामंतवर्ग के विरुद्ध षड्यंत्र को प्रोटेस्टेंट पंडितों द्वारा धर्मयुद्ध के बाद से चलाया गया। और दोनों - प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक सम्प्रदायों ने दीर्घकाल तक इस धर्मयुद्ध के झंडे उड़ाते हुए योरोप को तहस-नहस कर दिया।

इस बीच प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय से ही एक नया प्यूरिटन, अतिनैतिकतावादी सम्प्रदाय, अपनी धर्मसाधना में नाना बाधाओं से ऊब कर एक नये देश चला गया। इसी देश का नाम था अमरीका। योरोप में, इस नये धर्म की साधना में अभिजात वर्ग, शौर्य, ईश्वर केन्द्रित धर्म, कुलीनता और जनमत इत्यादि जो बाधाएँ आड़े आ रहीं थी, वे इस देश में नहीं थीं सो प्यूरिटन सम्प्रदाय निश्चिंत होकर यहाँ अपने धर्म और संस्कृति को जमाने में लग गया। प्यूरिटनों के बाद भी योरोप से और भी लोग अमरीका आए। ये लोग समाज के झड़ती-पड़ती, शहर बदर अपराधी, चोर-डकैत और कुछ लापरवाह भाग्यान्वेशी थे। इनका एकमात्र उद्देश्य धनोपार्जन

था। प्यूरिटनों के नये और इन चोर, लुच्चे, लफंगों की मनोवृत्ति के सम्मिश्रण से, अमरीका में कालक्रम में एक नयी संस्कृति का उदय हुआ। यही बुर्जुआ संस्कृति का विकसित रूप था। अमरीका में पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ बुर्जुआ संस्कृति की परिणति इतनी आगे बढ़ चुकी है कि इसे मौलिक रूप में पहचान पाना मुश्किल है।

योरोप से ईसाई करीब तीन सौ वर्ष पूर्व वहाँ गये थे (1620); अमरीका के लिए यह तीन सौ पचास वर्ष, अर्थ पिपासु लोगों के अविराम युद्ध, रक्तपात और कल्पनातीत हिंसक दुर्घटनाओं का इतिहास रहा। इस अंधकारपूर्ण इतिहास में रोशनी की हल्की-सी किरण भी नजर नहीं आती। एक अमरीकी समाज विज्ञानी ने लिखा है – मार्किन जाति का इतिहास लगातार युद्धों का इतिहास रहा है। हम लोगों ने युद्ध करते हुए स्वाधीनता पायी है। चार वर्षों (1861-1865) तक बर्बरता का अतुलनीय नृत्य, अविराम युद्ध द्वारा अपनी सीमाओं का विस्तार एवं सात पुश्तों तक छह युद्धों द्वारा वृहत शक्ति का दर्जा हासिल किया है। हमारे पूर्वज ज्यादातर लुंपेन थे, जेल से भागे हुए भयानक अपराधी, पुरानी दुनिया से आए हुए समाज-विरोधी, दुर्वृत्त, जंगल काटकर बस्ती बसाने वाले नीच लोग, अमानुषिक अत्याचार के अभ्यस्त, क्रीतदास और कष्टों के भय से भागे हुए किसान समूह थे। सारे अमेरिकियों को भद्र-सन्तान मानना भयानक गलती होगी।

किंक्सी राइट ने लिखा है – 1776 से युद्ध करते हुए अमरीका ने जितने वर्गमील राज्य हड़पे हैं, उसकी तुलना सिर्फ ब्रिटेन से की जा सकती है। अमरीकी विजय ब्रिटेन से थोड़ी सी कम है। ब्रिटेन के 3,50,000 वर्ग मील की तुलना में अमरीका ने 3,10,000 वर्गमील राज्य हड़पे हैं। 1776 से लगातार सात विदेशी युद्ध, चार वर्षों तक अविराम गृहयुद्ध और लगातार एक शताब्दी तक छिटपुट युद्ध करते हुए अमरीका ने आदिवासियों का विनाश किया है। इसके अलावा कैरेवियन द्वीप समूह, मध्य अमरीका तथा चीन पर भी कई हमले किये थे।

रेड इंडियन और अफ्रीका से आयातित नीग्रो गुलामों के हाड़-मांस और आँसुओं की नींव पर आज की समृद्धि की इमारत खड़ी है। बेयार्ड ने लिखा है कि यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी कि आज के ब्रिटेन और न्यू इंग्लैंड के शहरों की सारी इमारतें नीग्रो गुलामों के रक्त से रँगी हैं। ईसाईयों की बस्ती बनाते वक्त उत्तरी अमरीका में 8,46,000 तथा मैक्सिको और दक्षिणी अमरीका में एक करोड़ नब्बे लाख आदिवासी थे। अभी उनका नामोनिशान नहीं है। गोरे ईसाइयों ने उन्हें निर्मूल कर दिया। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि अमरीकी राष्ट्रपतियों में वाशिगंटन, जैक्सन, हैरिसन, टाइलर, हाएक, स्कॉट गारफील्ड, हैनकॉक, मैककिनले, थिओडोर रूजवेल्ट तथा आइजन हावर – ये तेरह लोग सैनिक विभाग से सम्बद्ध थे।

अमरीका के इतिहास में प्रथम अमीर 'Robber Barons' यानी डकैत जमींदार के रूप में विख्यात हैं। डकैत जमींदारों के इतिहास के प्रणेता गुस्ताव मायर्स ने उनकी कार्यप्रणाली का जो वर्णन दिया है, उसे जानने पर अन्य देशों के कुख्यात डाकू निरीह भद्र लगेंगे। उनके

धनोपार्जन की पद्धति के विशेषणों में चोरी, डकैती, गुंडागर्दी, हत्या, धोखाधड़ी, लूट, कसाईगीरी, विश्वासघात, राहजनी, प्रवंचना, जुल्म, मानवीय उत्पीड़न और राक्षसी हिंसा आदि शब्दों की उपाधियाँ भी कम ही पड़ती हैं।

आदिवासियों के उन्मूलन-युद्ध में तत्पर पुण्यात्मा प्यूरिटनों की शासन-परिषद ने 1703 में घोषणा की थी कि रेड इण्डियन के एक कटे मुंड के एवज में शिकारी को चालीस पाउण्ड पुरस्कार में मिलेंगे। 1744 में यह पुरस्कार सौ पाउण्ड कर दिया गया। मैसाचूसेट्स राज्य की एक उपजाति को विद्रोही घोषित करने के पश्चात इन मुंड-शिकारियों के लिए बारह वर्षों से ऊपर के मुंड के लिए एक सौ पाँच पाउण्ड तथा स्त्री और शिशु मुंड के लिए पचास पाउण्ड के पुरस्कार घोषित किये गये। एक रेड इण्डियन की हत्या के लिए फेडरल सरकार के औसत दस लाख डॉलर खर्च हुए थे।

मुंड शिकार के निर्वाह के लिए अमरीकी सरकार ने कभी भी हाथ नहीं खींचा। 1967, लॉस एंजेल्स में, एक भाषण में मार्टिन लूथर किंग ने कहा था "महान समाज की प्रतिश्रुतियों की विएतनाम के युद्ध में गोलियों से हत्या हो चुकी है।" एक जानकारी के अनुसार, विएतनाम में एक शत्रु की हत्या पर तीन लाख बारह हजार डॉलर खर्च हुए हैं, जबकि अमरीका में तथाकथित गरीबी के विरुद्ध संग्राम में, एक आदमी पर 53 डॉलर खर्च होते हैं।

अफ्रीका से आयातित गुलामों का प्रमुख खरीदार अमरीका ही था और विक्रेता थे भद्र ब्रिटेन और स्पेन। 1790 में क्रीतदासों की संख्या 6,97,000 थी। वहीं 1861 में लगभग चालीस लाख। लीवरपूल के दास व्यवसायियों के पास, दासों के निर्यात के लिए 1730 में 15 जहाज थे, 1751 में 30, 1770 में 96 और 1792 में 132 जहाज थे।

अमरीका में दासों के साथ भयंकर प्रताड़ना की घटनाएँ इतनी हिंसक और निर्मम हैं कि स्वयं के वास्तविक अनुभव बगैर किसी को भी यकीन नहीं आएगा कि मनुष्य इतना पैशाचिक भी हो सकता है।

चाबुक मारकर पीठ का चमड़ा उधेड़ना, दाँत उखाड़ लेना, गर्म लोहे से शरीर पर नाना प्रकार के चिन्ह बनाना, हाथ पैर की उँगलियाँ या नाक-कान काट लेना, और पैरों में जंजीर जकड़कर कुत्ते की तरह बाँधकर रखना, भूखे-प्यासे बन्द रखना, इत्यादि प्रताड़ना के प्रचलित उपायों में थे।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक चार्ल्स डिकेंस ने अमरीका-भ्रमण के दौरान, वहाँ के अखबारों के 'Lost - Found' स्तम्भ में जो विज्ञापन देखे थे, उनके कुछ नमूने "AmericUn Notes" नामक पुस्तक में उद्धत किये हैं वे कुछ इस तरह हैं–

"लगभग बारह वर्ष का नीग्रो दास लापता है। गले में कुत्ते की जंजीर और फीता है। फीते पर de Lampert खुदा है।"

"दो बच्चों के साथ नीग्रो दासी लापता। भागने से कुछ दिनों पहले औरत के बाएँ गाल

पर लोहे की गरम छड़ से 'M' चिन्ह दागा गया था।"

"आर्चर नामक नीग्रो दास लापता। छाती पर गहरे घाव का सीधा निशान है। दोनों हाथों पर चाकू से काटे गये घाव के चिन्ह। हमेशा ईश्वर से दया की प्रार्थना करता है।"

"हाम नामक नीग्रो और उसकी बीवी लापता। दोनों के बाएँ पैरों में जंजीर और रिंग बाँधी हुई है।"

"नीग्रो सैम लापता है। कुछ दिनों पहले उसकी हथेलियों में बन्दूक से छेद किये गये थे। हाथों पर और बगल में कुछ गोलियों के निशान हैं।"

"मेरा दास, नाम फाउंटेन, भाग गया है। उसके दोनों कानों में छेद हैं। सर के दाहिनी ओर घाव का चिन्ह है, पीछे गोली का दाग एवं पीठ पर चाबुकों के असंख्य दाग हैं।"

"दास लापता ... पैरों की अंगुलियाँ काट दी गई हैं, कुछ दाँत भी टूटे हैं ..."

"और एक कान भी काटा हुआ, दाहिना हाथ भी कुल्हाड़ी से काट दिया गया..."

दासों पर अत्याचारों की पाशविकता का कुछ अंदाज तो इन विज्ञापनों से होता ही है।

नीग्रो मनुष्य समझे जाएँ या गाय-घोड़ों की तरह सम्पत्ति – यह उत्तर और दक्षिण वासियों के बीच व्यापक मतभेदों का कारण रहा और फलस्वरूप चार सालों तक गृहयुद्ध चलता रहा। इस युद्ध में लगभग नौ लाख लोग हताहत हुए थे। लेकिन फिर भी नीग्रो जाति का भाग्य-परिवर्तन नहीं हो पाया। अमरीकी संस्कृति, अदालतों, यहाँ तक कि उनके संविधान में भी नीग्रो जाति को पूरी तरह मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। अमरीकी स्वाधीनता का घोषणा-पत्र (1776) मानव-मुक्ति की दलील के रूप में बहुप्रशंसित है। इसमें कहा गया है कि हमने स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में यह स्वीकार किया है कि स्वयं सृष्टिकर्ता ने पूरी मानव-जाति को कई जन्मसिद्ध मौलिक अधिकारों के साथ ही पैदा किया है। हर मनुष्य के जीवन-धारण और खुश रहने की कोशिश इसी मौलिक अधिकार के अन्तर्गत है।

अध्ययन से यह जाहिर होता है कि घोषणा-पत्र में उल्लेखित मानव-अधिकार से उनका आशय सिर्फ श्वेतांग मनुष्यों के अधिकार हैं। मार्टिन लूथर ने लिखा है –

अमरीकी संविधान में यह अद्‌भुत अनुच्छेद है (Article 1, Section 2, Para 3)। इसमें कहा गया है कि नीग्रो साठ प्रतिशत मनुष्य माने जाएँगे। वर्तमान में इसका तनिक संशोधन कर इसे पचास प्रतिशत माना गया। जीवन में जो काम्य है उसके अधिकार पचास प्रतिशत (गोरों से आधा) लेकिन जो अनिष्टकर है, वह दुगुना प्राप्त होगा। नीग्रो पचास प्रतिशत बस्तीवासी हैं। गोरों की तुलना में नीग्रो लोगों की आय आधी है, लेकिन बेकारों की संख्या दुगुनी है, विएतनाम में युद्धरत सैनिकों की संख्या भी गोरों से दुगुनी है। पूरे देश की नीग्रो आबादी दस प्रतिशत है, लेकिन विएतनाम युद्ध में मारे गये नीग्रो सैनिकों का अनुपात 20.6 % है। जनसंख्या के दस प्रतिशत होते हुए भी गरीबी का अनुपात पच्चीस प्रतिशत है। पच्चीस प्रतिशत नीग्रो घटिया (Menials) काम करते हैं।

किसी नीग्रो के किसी गुरुतर अपराध में पकड़े जाने पर, अदालत-पुलिस का इंतजार किये बगैर ही गोरे लोग उसे पीट-पीट कर मार डालते हैं। यह हत्या लिंचिंग (Lynching) के रूप में स्वीकृत प्रथा मानी जाती है। 1882 के पहले कितनी लिंचिंग होती थी, इसका तो ठीक ठीक पता नहीं है, लेकिन 1900 से 1914 के बीच ग्यारह सौ से भी ज्यादा नीग्रो लोगों की लिंचिंग द्वारा हत्या की गई। लिंचिंग की संख्या किसी भी साल में सौ से कम नहीं रही।

गोरे लोगों में इने-गिने उदारपंथियों और नागरिक अधिकार के लिए नीग्रो जाति के लगातार संग्राम के बावजूद इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अभी भी नीग्रो का स्थान भारतीय अछूतों से भी गया गुजरा है। नीग्रो और गोरों के बीच स्वाभाविक सामाजिक सम्बन्ध वर्जित हैं, दोनों संप्रदायों के छात्रों का एक विद्यालय में अध्ययन निषिद्ध है। गोरों के साथ एक ही डिब्बे में यात्रा, एक सीट पर बैठना, एक होटल में खाना, एक ही दुकान से सौदे-सुलुफ लेना, एक ही मोहल्ले में रहना वर्जित है।

कुछ भले लोगों की मान-रक्षा के लिए एकाध विधानों द्वारा इस वैषम्य को दूर करने की प्रचेष्टाएँ हुईं भी, लेकिन कोई फर्क नहीं आया। विधान कोई नहीं मानता। संस्कृति, विधि-विधानों से ज्यादा ताकतवर होती है। परम्परा और संस्कृति विरोधी विधि-विधान बनाए जा सकते हैं, लेकिन चलते नहीं। हमारे देश में ही विधि द्वारा बाल-विवाह बन्द नहीं किया जा सका, दहेज-प्रथा, अस्पृश्यता का उच्छेद नहीं किया जा सका। दुर्नीति-दमन की असफल कोशिशों की तरह बुर्जुआ-संस्कृति-विरोधी किसी भी काम में सफलता हासिल नहीं हो सकती। हमारे यहाँ जाति-विशेष में बलात्कारी को वीर कहा जाता है। संस्कृति-विरोधी विधान के उल्लंघन का जनता भी विरोध नहीं करती, पुलिस अपराधी को गिरफ्तार नहीं करती, अगर करती भी है तो न्यायाधीश विधान की अभिनव व्याख्या देकर उसे रिहा कर देते हैं।

बुर्जुआ समाज में न्यायालय से जुड़ी प्रचलित कहानियाँ कितनी झूठी हैं, यह अमरीकी अदालतों के फैसलों से जाहिर होता है। विचारक की निरपेक्षता, अगर वादी-प्रतिवादी दोनों ही प्रभुवर्ग के हों तब दिखती है। 1857 में इलिनॉय राज्य में ड्रेड स्कॉट नामक एक नीग्रो ने, मालिक की मुत्यु के बाद, फेडरल कोर्ट में मुक्ति के लिए आवेदन किया था। इस समय अमरीका के उत्तर राज्यों में दास-प्रथा का विलोप सम्भव हुआ था। इलिनॉय इसी इलाके में था। फिर भी फेडरल कोर्ट की राय में नीग्रो चूंकि नागरिक ही नहीं हैं, सो उसका आवेदन का अधिकार ही नहीं है और इस तरह उसका प्रतिवेदन खारिज कर दिया गया। इस राय से मनु के विधान का आश्चर्यजनक साम्य है। शूद्रों की तरह नीग्रो भी प्रकृति सन्तान हैं। मालिक की मृत्यु पर भी वह स्वाधीन नहीं हो सकता है। एकमात्र मृत्यु के सिवाय मनुष्य द्वारा प्रणीत कोई विधि-विधान उसे मुक्त नहीं कर सकता। 1875 में संविधान-संशोधन द्वारा नीग्रो लोगों को कुछ अधिकार दिये गये थे। 1877 से ही उच्च न्यायालय ने अपने हर फैसले द्वारा सारे अधिकार खारिज करने शुरू कर दिये और 1883 में सिविल राइट विधि ही संविधान-विरोधी घोषित कर दी गई। इस प्रसंग में प्राचीन भारत के आर्यों के साथ अमरीकी गोरों के विचारों का सादृश्य और प्रवृत्ति की समानता प्रमाणित होती है।

नीग्रो जाति के लिए ब्राइट्स के ये उद्‌गार उल्लेखनीय हैं –

नीग्रो लोग स्वाभाव से डरपोक, दास वृत्ति की गहरी मानसिकता वाले, भावप्रवण, हठी तथा बेहिसाबी होते हैं। उनमें मेधा, धैर्य, वैज्ञानिक अनुसंधान की इच्छा तथा उद्‌भाविनी शक्ति नहीं होती है। गोरों की तुलना में वे कितने निकृष्ट हैं, इसकी व्याख्या नहीं हो सकती है। गोरों के साथ प्रतियोगिता में टिक पाने की योग्यता नीग्रो जाति में नहीं।

अमरीका तो शिरोमणि है ही, लेकिन स्वाधीन दुनिया के दूसरे देशों में भी उच्छृंखलता, हिंसा, अपराधों की बाढ़ तथा बुर्जुआ संस्कृति की क्रमोन्नति समानुपातिक है। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि ब्रिटेन में यौन अपराधों की संख्या 1938 में 5000, 1945 में 10000 और 1960 में बीस हजार थी। तलाक, 1960 में 15000, 1971 में 77,000 हुए। ब्रिटिश सरकार के परिसंख्यान विभाग द्वारा प्रकाशित (1972 के दिसम्बर में) 'Social Trends' नामक पुस्तक में कहा गया है कि 1960 के दशक में अपराधों की संख्या अतिद्रुत गति से बढ़ी है। हत्या सहित विभिन्न हिंसक कार्यकलापों की संख्या 1961 में 12304 से बढ़कर 1971 में 29874 हुई है।

★★★★★

(राधागोविन्द चट्‌टोपाध्याय का यह लेख 'पहल' से लिया गया है। इस लेख के बारे में अन्य जानकारियाँ इसके अनुवाद प्रमोद बेड़िया ने लेख के शुरू में ही दे दी है। 'पहल' से साभार ग्रहण करते हुए, इस विचारोत्तेजक लेख का उद्धारकर हम तक पहुँचाने के लिए हम प्रमोद बेड़िया और समस्त 'पहल' परिवार का आभार व्यक्त करते हैं।)

गार्गी प्रकाशन के अन्य प्रकाशन

नये प्रकाशन

लातिन अमरीका के रिसते जख्म	ऐदुआर्दो गालेआनो	200
अन्तहीन संकट	जॉन बेलामी फोस्टर/रॉबर्ट मैक्केज्नी	150
आजादी या मौत	वेद प्रकाश 'वटुक'	130
आग की यादें	ऐदुआर्दो गालेआनो	100
गदरी बाबा कौन थे?	वरियाम सिंह सन्धू	40
इतिहास : जैसे घटित हुआ (मंथली रिव्यू के (1949-1998) चुने हुए लेख)		150
हो ची मिन्ह : एक क्रान्तिकारी का जीवन	सूफी अमरजीत	100
लू शुन : एक परिचय	फेंग शुएफेंग	20
जंगली घास (गद्य कविताएँ)	लू शुन	30
समाजवाद का ककहरा	लियो ह्यूबरमन	45
डॉक्टर नार्मन बेथ्युन की अमर कहानी	सिडनी गार्डन, टेड एलन	150
एक विराट जुआघर (वित्तीय पूँजी के संकट पर फिदेल कास्त्रो के विचार)		30
पहला अध्यापक	चिंगिज आइत्मातोव	30
क्यूबा क्रान्ति के पचास वर्ष		30
वित्तीय महासंकट	फ्रेड मैक्डॉफ, जॉन बेलामी फोस्टर	80
विश्वव्यापी कृषि संकट		50
विश्व खाद्य संकट		50

असमाधेय संकट	पॉल एम स्वीजी, हैरी मैक्डॉफ	50
आधुनिक मानव का अलगाव	फ्रित्ज पापेनहाइम	80
विज्ञान और वैज्ञानिक नजरिया (संकलन)		35
तस्वीर	निकोलाई गोगोल	20
इटली की कहानियाँ	मक्सिम गोर्की	50
मुक्तिमार्ग	हावर्ड फास्ट	80
पाप और विज्ञान	डाइसन कार्टर	50
फिदेल एक निजी शब्द चित्र	गेब्रियल गार्सिया मार्ख्वेज	10
एक और ग्यारह सितम्बर	फिदेल कास्त्रो	20
इतिहास मुझे सही साबित करेगा	फिदेल कास्त्रो	25
मनुष्य की भौतिक सम्पदाएँ	लियो ह्यूबरमन	70
नौजवानों के नाम भगत सिंह का संदेश		15
मकड़ा और मक्खी	विलहम लिब्नेख्त	02
प्रेमचंद की तीन कहानियाँ	प्रेमचंद	10
क्वाण्टम के सौ साल	रवि सिन्हा	40
क्या करें? (संकलन)		15
जनता के गीत		15
सुल्ताना का सपना	रुकय्या सखावत हुसैन	10